❑ नानेश वाणी – 5
कषाय–समीक्षण
(भाग–1, क्रोध एवं मान का स्वरूप–विश्लेषण)

❑ आचार्य श्री नानेश

❑ प्रथम संस्करण :
अक्षय तृतीया, मई 2002, 1100 प्रतियाँ

❑ मूल्य : 30/–

❑ अर्थ सहयोगी :
श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी रांका
चेन्नई (सारोठ)

❑ प्रकाशक :
श्री अ.भा.साधुमार्गी जैन सघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर

❑ मुद्रक :
दिलीपकुमार वया "अमित"
'**मिच्छामि दुक्कडम्**' हिन्दी मासिक
12, वीरप्पन स्ट्रीट,साहूकारपेट, चेन्नई–600 079
दूरभाष : (044) 5383350

प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरुष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियो मे हैं जिन्होने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चल कर भव्य आत्माएँ अपने कर्मों का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती है। यद्यपि आचार्य श्री जी के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानो मे वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा। इस प्रकार उनका यह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व मे समाहित हो गया है जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप मे उपलब्ध है। एक क्रान्तिदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सासारिक प्राणियो के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। इस स्तम्भ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मियाँ युगो–युगो तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे इसके लिये यह आवश्यक है कि न तो उन साहित्य रश्मियो को क्षीण होने दिया जाये न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्व सामान्यजनो हित उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जाये। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को "नानेश वाणी" पुस्तक शृखला के अतर्गत प्रकाशित करने का निर्णय किया।

इस सन्दर्भ मे बैगलोर निवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपानी ने अर्थ सबधी व्यवस्था मे जो सद्प्रयत्न किया, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत कृति पूर्व मे 'कषाय–समीक्षण' नाम से प्रकाशित पुस्तक की नई आवृत्ति है। इसमे कुछ सशोधन परिष्करण भी हुआ है। इस कृति के प्रकाशनार्थ अर्थ प्रदान करने वाले उदारमना सुश्रावक श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी राका, चेन्नई (सारोठ) के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना भी अपना दायित्व समझता हूँ।

यद्यपि सम्पादन–प्रकाशन में पूरी सावधानी रखी गई है तथापि कोई भूल रह गई हो तो सुधी पाठको से निवेदन है कि वे हमे अवगत कराये ताकि आगामी सस्करणो मे भूल का परिमार्जन किया जा सके।

निवेदक

शान्तिलाल सांड

सयोजक

साहित्य प्रकाशन समिति

श्री अ भा सा जैन सघ, समता भवन, बीकानेर

एक दीप आदित्य बन गया
(आचार्य श्री नानेश सक्षिप्त परिचय)

एक छोटा दीप,
एक नान्हा दीप,
सदा हरता तिमिर जग का,
सहज शात अभीत ।

छोटा–सा दीपक, गॉव की मिट्टी की सोधी गध से सुवासित, सुसस्कारो के नेह से सिचित, निर्मल वर्तिका से सुसज्जित ज्योतिर्धर युगपुरुष श्री जवाहराचार्य के सुशासन मे युवाचार्य श्री गणेशाचार्य से प्रकाश ले अपने चहु ओर परिव्याप्त निबिड अधकार को विदीर्ण करने हेतु प्रज्वलित हो उठा था। अग्निज्योति, चन्द्रज्योति, रविज्योति की जाज्वल्यमान परम्परा मे सम्मिलित होने का क्षीण दीपज्योति का दुस्साहस। बलिहारी उस आत्मबल की जो दीपक से दीपक जलाकर अमानिशा को अमगलकारी दीपावली मे परिवर्तित कर देने की क्षमता रखता है ? तब यदि नन्हा दीपक, "नाना" दीपक, प्रकाश की अजस्र धारा प्रवाहित करने हेतु, नानादिशोन्मुखी हो, नानाविध, सर्वजनहिताय था आचार्य नानेश बन गया था तो आश्चर्य कैसा ? शास्त्रकारो ने कहा भी है–

जह दीवो दीवसयं पइप्पए जसो दीवो।
दीवसमा आयरिया दिव्वंति परं च दिवंति।।

और फिर बाल भगवान की परम्परा कोई नई तो नहीं। प्रलय पारावार मे वट वृक्ष के पत्र पर सहज निद्रामग्न बालमुकुन्द साक्षात् ब्रह्म ही तो ये जिन्हे श्रद्धालुजन भक्तभाव से नमन करते हैं– "वटस्य पत्रस्य पुट" शयानम् बालमुकुदम् शिरसा नमामि" और उन्हीं के सरक्षण मे नव सृष्टि का विकास सभव हुआ था। अज्ञानाधकार के हरण मे महत्व वय, आकार, रूप अथवा वर्ण का नहीं होता क्योकि

"उतमत गुणेहि चेव पविज्जई"। उत्तमता गुणो से प्राप्त होती है और गुणो की ही पूजा होती है– "गुण पूजास्थान न च लिग न च वय।" यही देखकर तो पूज्य आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा ने पूर्ण आश्वस्तिभाव से आठवे पाट के अधिष्ठाता का पद "नानालाल" को देने की पूर्वपीठिका की दिशा मे उन्हे युवाचार्य के पद पर अभिषिक्त किया था भले ही जननी शृगार बाई का ममताव्याकुल सशयशील हृदय प्रार्थना करता रहा हो– "ई घणा भोला टाबर है, या पे अतरो मोटो बोझ मती नाखो।"

परन्तु क्या यह बोझ डाला गया था ? दीपक से कोई कहता है कि चतुर्दिश अधकार को विदीर्ण करने का बोझ तू उठा । वह भार तो सूर्य का उत्तराधिकारी होने के कारण प्रज्वलित दीपक पर स्वत ही आ जाता है। दीपक का अर्थ ही है प्रकाश और प्रकाश का अर्थ है तमहरण का सकल्प। इस सकल्प की पूर्ति हेतु दीपक का कर्तव्य बन जाता है कि वह अपनी प्रल्वलित वर्तिका से दीपक के बाद दीपक प्रदीप्त कर अवली मे सजाता जाए जिससे सम्पूर्ण जगत प्रकाशमान हो उठे। इसी सकल्प की पूर्ति मे "नाना दीप" ने दीपित सत–सतियो की एक सुदीर्घ शृखला ही सर्जित कर दी थी। एक कडी दूसरी कडी से जुडती गई थी। सम्पूर्ण ससार को अपनी ज्योति–परिधि मे आवेष्ठित कर लेने के लिए और जगती का ऑगन आचार्य श्री के नेश्राय मे दीक्षित दीपको की लम्बी शृखला से सज गया। किसी एक आचार्य की प्रचण्ड ऊर्जा का यह असदिग्ध प्रमाण था। यह चमत्कार भी था क्योकि ज्ञान–साधना और समाज–निर्माण का यह कार्य इतने विशाल स्तर पर विगत पॉच सौ वर्षों मे भी सम्पन्न नही हुआ था। फिर तत्कालीन परिस्थितियॉ अत्यत विषम थी। एक अत्यत सीमित साधु–साध्वी वर्ग, साम्प्रदायिक आग्रहो से टकराव, विरोधो की उग्रता एव दुर्बल सघीय व्यवस्था अपने आप मे विकट समस्याऍ थी। परन्तु "दिवा समा आयरिया पण्णता" आचार्य उस दीपक के समान होता है जो अपनी प्रज्ज्वलित ज्योतिशिखा से प्रत्येक कोने का तमहरण करने का सामर्थ्य रखता है। अत भीषण झझावात के उस काल मे जब

श्रमण सघो एव श्रावक सघो की भावनाएँ भीषणरूप से आलोडित थी, इस सघ प्रज्वलित दीपक ने साहस–पूर्वक घोषणा की थी।

"सघर्ष से ही नवनीत निकलता है और सघर्ष ही विपुल शक्ति का उत्पादक होता है। सघर्ष से भयभीत होने वाला व्यक्ति प्रगति के पद चिह्नो पर नही चल सकता।"

और प्रारभ हुई थी लडाई– दिए की और तूफान की, जिसमे दीया विजयी हुआ था। झझावत शात हुआ था सद्भाव स्नेह, सहयोग और समर्पण की मद फुहारो से सम्पूर्ण जन–जीवन स्नात हो निर्मल हो उठा था तथा सर्वत्र व्यवस्था और अनुशासन का सागर उमगे भरने लगा था।

यह साधना थी, तपस्या थी, सोने की आग मे तपने की। सवत् 2020 के रतलाम चातुर्मास ने यह सिद्ध कर दिया था कि वीतरागी सत अपने–पराये, शत्रु–मित्र, हानि–लाभ, जय–पराजय आदि के भावो से मुक्त होते है। सोना तप कर कुदन बनता है और सघर्षो मे स्थिरमति रहकर मनस्वी वदनीय बन जाता है।

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःख न च सुखं।
तप्तं तप्त पुनरपि पुनः कांचन कांतवर्णम्।।

अशाति, विरोधी और सघर्ष से आलोडित जन सागर के इस अनन्य योगी ने सद्भाव, त्याग, तप और धार्मिक उपलब्धियो का जो नवनीत निकाला उसे अपनी साधना से मानव मात्र के हितार्थ सहज भाव से वितरित भी कर दिया। हिसा, आतक, विरोध, शोषण पीडा के शमन तथा लोभ, मोह, क्रोध जैसी व्याधियो के उपचार मे यह नवनीत अमृत रसायन सिद्ध हुआ। अपने दिव्य सदेशो द्वारा इस सत ने वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता के व्यामोह के प्रति अभिनव मनुष्य को जिस प्रकार सचेत किया उसी प्रकार की सुदर काव्यात्मक दिदर्शना राष्ट्रकवि दिनकर की इन पक्तियो मे हुई है–

व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है ज्ञेय,

पर न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय।
श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत।
श्रेय मानव का असीमित मानवो से प्रीत।
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान।
तोड दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान।

इस व्यवधान को तोडने की दिशा मे यात्राओ, चातुर्मासो और उद्बोधनो के जो आयोजन हुए थे उनके बीच एक दिव्य व्यक्तित्व उभरा था– उन्नत ललाट, तेजयुक्त आनन, सुदृढ ग्रीवा, विशाल वक्षस्थल, प्रलम्ब बाहु और अनोखे प्रभामडल से दीपित वपु जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् दृष्टि की प्रकाश किरणे बरसाता इस सम्पूर्ण जीव–सृष्टि को अपने स्नेहपूर्ण कोमल आवेष्टन मे समेट लेने के लिए आतुर था।

रवि, पवन, मेघ, चदन और सत, भेद–अभेद नही जानते। स्वभाव से ही अपना अक्षय स्नेह भडार सबके लिए उन्मुक्त रखते है। फिर इस प्रकाशपुज की ज्योति सीमा मै कैसे बधती ? प्रसग अनेक हो सकते हैं। परन्तु प्रतिबोध की महिमा अभिन्न होती है। इसीलिए सामाजिक उत्क्रान्ति की युगातकारी दृष्टि धर्मपालो की अटूट शृखला निर्मित कर सकी। इस प्रकार सम्यक्त्व के मत्र के प्रभाव से समाज के निम्नत स्तर पर बैठे व्यक्ति को भी उच्चतम व्यक्ति के स्तर पर वही आसीन करा सकता था जो मानता हो "कम्मुणा बभणो होइ, कम्मुणा होई खत्तिओ।" भगवान् महावीर की इस वाणी को यदि आचार्य श्री ने चरितार्थ किया तो आश्चर्य कैसा ? हरिकेशबल नामक चाण्डाल के लिए यदि प्रवज्या का विधान हो सकता था, तो जन्म के आधार पर निर्मित वर्णव्यवस्था की उपयुक्तता तर्क सगत कहॉ बैठती थी ? परिणामस्वरूप व्यापक मानव समाज के प्रति स्नेह, सद्भाव और न्याय की जो निर्मल धारा प्रवाहित हुई थी उसमे गुराडिया, नागदा, आक्या और चीकली जेसे ग्रामो के दलित स्नान कर कृतार्थ हो गये थे। पारस गुण अवगुण नहि जानत, कचन करत खरो– तब सत के ससर्ग से सरल हृदय अज्ञानीजन धर्मपाल क्यो नही बन सकते थे ? एक राजा भगीरथ ने

गगा की पतितपावनी धारा अवतीर्ण कराकर प्राणिपात्र के लिए मुक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया तो दूसरे भगीरथ ने समता समाज की पुण्यधारा मे मानव मात्र के लिए अवगाहन का मार्ग प्रशस्त कर मानवता की अतुलनीय सेवा की।

एक जड सैद्धान्तिक विचार को सहज जीवन पद्धति मे रूपातरित कर पाना निश्चय ही चामत्कारिक उपलब्धि थी। प्रजातत्र समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता जैसे जटिल, विवादित, बौद्धिक बाग्जाल मे उलझी अवधारणाओ को, सरल व्यावहारिक, उपयोगी जीवनचर्या बनाकर प्रचलित कर पाना युगपुरुष का ही कार्य हो सकता था। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चितन को सैद्धान्तिक आग्रहो से तथा धर्म और दर्शन के तत्त्वो को पाखड, अतिचार, दुराग्रह और आडम्बर से मुक्त कर तथा उन्हे अन्योन्याश्रित बनाकर इस महायोगी ने आधुनिक युग की विकट समस्याओ का ही सहज समाधान प्रस्तुत कर दिया। समता को युगधर्म को रूप मे मान्य एव प्रतिष्ठित कर पाना छोटी बात नही थी। कितनी कठोर साधना, कितना गहन चितन, कितनी गहरी दार्शनिक पैठ और कैसे मनोवैज्ञानिक कौशल की इस हेतु आवश्यकता थी। इसका प्रमाण वह विपुल साहित्य है जिसका निर्माण मानवृत्ति के परिष्कार, पुनर्निर्माण और निर्देशन हेतु इस युगाचार्य ने स्वय किया एव करने की प्रेरणा दी। समीक्षण ध्यान की पद्धतियो को आत्म समीक्षण के दर्शन से परमात्म समीक्षण तक पहुँचाने मे आत्मा–परमात्मा, जीवन–ब्रह्म, द्वैत–अद्वैत आदि से सबधित विविध चितन धाराओ का जिस प्रकार समता दर्शन मे समन्वय किया गया, वह स्वय मे उपलब्धि है। एक धर्म विशेष की समझी जाने वाली आचरण शैली को मानव मात्र की आचार सहिता बना सकनेवाली दृष्टि निश्चय ही चामत्कारिक थी। इसकी सिद्धि के लिए जन–जन के हृदय को सस्कारित कर यह विचार पुष्ट करना आवश्यक था कि माया के पॉच पुत्र काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ मनुष्य के अध पतन के मूल कारण है। ये ही आत्मा की परमात्मिकता मे व्यवधान डालने वाले भी है।

पाँच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटे दिवस अरु संझा।
जो गढ़पति मुहकम होई, तो लूटि ने सके कोई।।

और आचार्य नानेश ऐसे मुहकम गढपति सिद्ध हुए, जो रमैया की दुल्हन को बाजार लूटने का कोई अवसर ही लेने नही दे सकता था। ऐसे गढपति की महिमा का बखान करते हुए सत कबीर ने पहले ही कह दिया था–

ऐसा अद्‌भुत मेरा गुरु कथ्या, मैं रह्या उमेषै ।
मूसा हस्ती सो लडै, कोठ बिरला पेषै।।
मूसा बैठा बाबि पे, लारे सापणि धाई ।
उलटि मूसै सापिण, गिली यह अचरज भाई।।
नाव मे नदिया डूबी जाई ।।

आकाश के औंधे कुए से पाताल की पनिहारिन जो जल भरती है, उसे कोई बिरला हस ही पीता है। यह उलटबासी नही, सत्य है, तत्त्व है, सार है, यही वह ज्ञान है जिसके आलोक मे यह चराचर जगत् किसी रूप मे अर्थवान बनता है । एक नन्हे दीपक से विकीर्ण यह प्रकाश विगत लगभग अर्द्धशती मे विस्तार पाता, प्रचण्डतर होता अपनी दीप्ति के कारण जाज्वल्यमान सूर्य का पर्याय बन गया।

अपने सहज समत्व ज्ञान से, दीपित कर धरती का आंगन ।
कुटिया का वह नन्हा दीपक, एक नया आदित्य बन गया ।।

प्रत्येक जीवन की एक निश्चित अवधि होती है और प्रत्येक सूर्य को एक शाम अस्त होना ही पडता है, यह प्रकृति का नियम है। परन्तु सूर्य के अस्त होने की महिमा इस तथ्य मे निहित है कि वह प्रखर प्रकाश के साथ अपनी यात्रा पूर्ण करता है और अपने पीछे छोड जाता है एक नये सूर्योदय की चिरन्तन आशा। आचार्य श्री नानेश का अवसान भी ऐसा ही था, सामान्य नही, उनके प्रखर व्यक्तित्व के समान ही दिव्य।

अस्ताचलगामी उस सूर्य की सध्यावदन करते साधको ने स्पष्ट देखा था कि एक ज्योति आकाश से सहसा उतरी थी, धर्माचार्य के सूर्य

के प्रकोष्ठ मे प्रविष्ठ हुई थी और धरती के उस सूर्य का प्रकाश समेट कर द्विगुणित आभायुक्त हो तीव्रता से पुन आकाश मार्ग से लौट गई थी।। यह चमत्कार था और हम जानते है, चमत्कार होते हैं। वह अवसान चमत्कारी था जो अपने पीछे सम्यक् दर्शन का ही नही, सपूर्ण जीवचर्या का ऐसा प्रखर आलोक छोड गया जिसमे भव्य आत्माएँ आत्मोद्धार का मार्ग स्पष्ट देख सकती है।

दीप से आदित्य बना वह दीप अपने पीछे एक और दीप प्रज्ज्वलित कर गया है रामेश दीप जो उस दिव्य आलोक का गुरु दायित्व अपने सुदृढ कधो पर वहन करने मे पूर्ण सक्षम है दीप की आदित्य बनने की दिशा मे एक और यात्रा प्रारभ हो गई है। साधुमार्ग मे यह परपरा अविच्छिन्न रूप से चलती रहेगी, यह तथ्य उस परम्परा मे आदित्य बने दीप प्रमाणित कर गये हैं। इस प्रकार अनन्त आलोक का पारावार हिलोरे लेता रहेगा। ऐसा आलोक और चलती रहेगी दीप के आदित्य बनने की यह अविच्छिन्न परम्परा करीब अठारह हजार पाच सौ वर्षों तक। भगवान महावीर का ऐसा ही कथन है और यही शास्त्र वचन भी है।

–डा. आदर्श सक्सेना
बी–17, शास्त्री नगर, बीकानेर (राज)

अर्थ-सहयोगी एक परिचय

श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी रांका, चेन्नई (सारोठ)

स्वनाम धन्य श्रेष्ठिवर स्व श्री रोडमलजी सा राका तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कचनबाई मूल निवासी सारोठ (ब्यावर के पास) हैं। श्री रोडमलजी स्व श्री मेघराजजी राका के पुत्र हैं। श्रीमान् रोडमलजी अत्यन्त उदार, सरल, धर्मनिष्ट, सेवाभावी, सुश्रावक थे। आपके पाच पुत्र एव एक पुत्री है। आपने अनेक व्रत–प्रत्याख्यान *अगीकार कर रखे थे। चतुर्थ व्रत को भी आपने ग्रहण किया था।* नियम पूर्वक 5–6 सामायिक, स्वाध्याय आपकी प्रतिदिन की दिनचर्या मे शामिल थे। स्व आचार्य श्री नानालालजी म सा के आप परम भक्त थे।

आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री बालचन्दजी राका ने अपना कार्यक्षेत्र दक्षिण मे मद्रास को बनाया। व्यापार मे अभिवृद्धि के साथ–साथ आपने धार्मिक, सामाजिक कार्यो मे भी यश प्राप्त किया। तण्डियारपेट मे 'समता भवन' निर्माण मे आप का मुख्य सहयोग रहा। इनके पुत्र श्री अशोक भी उन्ही के पदचिह्नो पर चल रहे हैं।

श्री कन्हैयालालजी राजस्थान मे ही रहते हैं। आप सारोठ सघ के अध्यक्ष हैं। श्री सपतराजजी एव पारसमलजी साहब एव पुत्री श्रीमती नवरतन बाई हैं।

आपके छोटे पुत्र श्री रतनलालजी राका अत्यन्त मिलनसार, मृदुभाषी, सहृदय, उदारमना, सेवाभावी युवारत्न है। आप अनेक सस्थाओ से जुडे हुए है। हर सस्था मे आपका योगदान है। आप का धार्मिक–सामाजिक कार्यक्षेत्र विस्तृत है। आप 'सादा जीवन उच्च विचार' को चरितार्थ करते हैं। आपने श्री साधुमार्गी जैन सघ,

तण्डियार पेट के पूर्व अध्यक्ष के रूप मे समता भवन एव उसकी गतिविधियो मे काफी प्रसशनीय कार्य किया। आप श्री साधुमार्गी जैन सघ चेन्नई के मानद् मत्री है। श्री अ भा सा जैन सघ के आप न केवल कार्यकारिणी के सदस्य है बल्कि एक कर्मठ कार्यकर्त्ता भी है। अनेक स्थानीय एव बाहर की सस्थाओ मे आपका पूर्ण आर्थिक सहयोग रहा है।

आपने केवल व्यापार एव धनोपार्जन मे नहीं, अपितु पारमार्थिक कार्यों मे भी पूर्णरूपेण सक्रिय है।

आपका प्लास्टिक तथा इलेक्ट्रिक का व्यापार आरआर प्लास्टिक तथा आरआर इलेक्ट्रो ट्रेडर्स के नाम से है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सन्तोष बाई धार्मिकवृत्ति की, सतसेवा मे अग्रणी आतिथ्य सत्कार एव अपने पति को धार्मिक कार्यों मे सदा सहयोग देती रहती है। सचमुच मे यह कहावत यहॉ शत–प्रतिशत चरितार्थ होती है कि हर सफल आदमी के पीछे एक महिला का हाथ रहता है। आपके दो पुत्र श्री मुकेशकुमार और राकेशकुमार अपने पिता के पदचिह्नो पर चल रहे है। आपके एक पौत्र भी है – श्री ऋषभकुमार।

आपका परिवार एक धर्मनिष्ट परिवार है। आदर्शत्यागी पडितरत्न धर्मेशमुनिजी एव साध्वी श्री जयश्रीजी के आप ससारपक्षीय साला एव भाई हैं।

आप का परिवार आचार्य श्री नानेश एव रामेश के प्रति अनन्य आस्थावान एव पूर्णरूपेण समर्पित है। आपने स्व आचार्य श्री नानालालजी म सा एव वर्तमान आचार्य श्री रामलालजी म सा के प्रवचनो एव सद्साहित्य को जनसाधारण तक पहुॅचाने के लिए श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ की साहित्य समिति को प्रकाशित करवाने हेतु सहायतार्थ अपनी सहमति प्रदान की है, इसके लिए साहित्य समिति आपकी आभारी है।

क्रोध-समीक्षण

समीक्षण ध्यान की विधा इतनी विलक्षण एव प्रभावोत्पादिका है कि उसकी विधिवत् साधना से साधक की अन्तर्दृष्टि जागृत होकर यथातथ्य अवलोकन मे सक्षम बन जाती है। वैसी अन्तर्दृष्टि समभावना एव समदर्शिता के आधार पर एक ओर जड तत्त्वो की विभिन्न पर्यायो की भीतरी परतो को देख लेती है तो दूसरी ओर वह आत्मा की प्रवृत्ति तथा प्रवृत्तियो के रहस्यो का अवलोकन भी कर लेती है। वस्तुत समीक्षण ध्यान का अभ्यास करने वाला साधक आत्मदृष्टा बन जाता है। उसकी दृष्टि तब समीक्षण–दृष्टि हो जाती है।

समीक्षण दृष्टि की शक्ति से ही यह ज्ञात किया जा सकता है कि मानव–जीवन के विकास को चरम लक्ष्य तक पहुॅचा देने मे कौन सी वृत्तियॉ अवरोध रूप हैं तथा उन अवरोधो को दूर करने मे किस प्रकार का पुरुषार्थ सहायक हो सकेगा ?

सिद्धात्मा और ससारी आत्मा के मूल स्वरूप मे कोई अन्तर नहीं है। अन्तर है तो केवल उस स्वरूप की आवृत्तता एव अनावृत्तता का। ससारी आत्माओ के मूल स्वरूप पर कर्मावरण होता है और सिद्धात्मा पूर्ण रूप से अपने मूल तेजस्वी स्वरूप मे निरावृत्त होती है। ये कर्मावरण आत्मा की स्वाभाविक शक्तियो को आच्छादित किये रहते हैं, आत्मा की ही अपनी विपथगामिनी वृत्तियो एव प्रवृत्तियो के कारण विषय कषाय से अनुरजित होकर उसकी वैसी वृत्तियो एव प्रवृत्तियो के कुप्रभाव से आत्मा के मूल गुण दब जाते है, छिप जाते हैं अथवा विकृत रूप ले लेते हैं। प्रवाह रूप मे अनादि काल से ससारी आत्मा की यही स्थिति बनी हुई है।

समीक्षण–ध्यानी अपनी विशिष्ट विवेक शक्ति द्वारा अशुद्ध आत्म–स्वरूप का पृथक्करण करता है। और अशुद्धता के कारणभूत काषायिक वृत्तियो को भी देखता है। श्री आचाराग सूत्र के तृतीय अध्याय के चतुर्थ उद्देशक मे कहा गया है– "से वता कोह च माण च माय च लोभ च, एय पासगस्स दसण उवरयसत्थस्स पलियतकरस्स,

आयाण सगडब्भि।" अर्थात् काषायिक वृत्तियो रूपी अवरोधो को शास्त्रोक्त रीति से सयम का अनुष्ठान करके दूर कर सकते हैं। यह उपदेश किसी सामान्य व्यक्ति का नही बल्कि उन सर्वज्ञ तीर्थंकरो का है जिन्होने स्वय इन शस्त्र रूप अवरोधो को समीक्षण ध्यान द्वारा दूर किया तथा अपने आन्तरिक विकारो का समूल उन्मूलन करके भव–भ्रमण का अन्त किया और परम पद प्राप्त किया। अत इस उपदेश मे किचित्मात्र भी सन्देह को स्थान नही।

मोक्ष का अधिकारी कौन ?

वीतराग वाणी के अनुसार वही मोक्ष का अधिकारी बनता है जो पुरुष सम्यक्ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की आराधना करते हुए सयम का अनुपालन करता है। वह क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का क्षय करके आठो कर्मों तथा तज्जन्य विकारो का क्षय करता है और फलस्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रस्तुत आगम सूत्र मे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायो के क्षय को मुक्ति प्राप्ति का मुख्य साधन कहा गया है। इसका कारण यह है कि कषाय ही प्रमुख रूप से आत्म–गुणो का घात करने वाली है। कषाय की व्याख्या यह है कि जो आत्म–गुणो को कषे (नष्ट करे) तथा भव–भ्रमण की आय–वृद्धि उत्पन्न करे। अतएव कषाय के स्वरूप को समझना तथा उससे विरति लेने के उपायो को अपनाना परमावश्यक हो जाता है।

आत्मा की विकास–यात्रा के ये सभी काषायिक अवरोध दूर हो और उसका मूल स्वरूप निरन्तर उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होता रहे, तभी मोक्ष का अधिकार निरन्तर समीप से समीपतर आता है। अतएव मोक्ष के इस अधिकार को समग्र रूप से समाहित कर लेने के लिए कषायो को विलग करने का पुरुषार्थ क्रियान्वित किया जाना चाहिये।

काषायिक वृत्तियो का जब समग्र रूप से उन्मूलन हो जाता है तो चेतना शक्ति परिपूर्ण रूप से उद्भासित हो जाती है और उसका अनन्त ज्ञान–दर्शन स्वभाव प्रकट हो जाता है। तब पुरुष समस्त पदार्थों के समग्र का ज्ञाता, त्रैकालिक गुण पर्यायो का दृष्टा, सर्वज्ञ,

सर्वदर्शी बन जाता है। क्योकि परमाणु आदि द्रव्यो मे से जो किसी एक को परिपूर्णत जानता है, वह ससार के समस्त पदार्थों को भी सम्पूर्णतया जानता है और जो ससार के समस्त पदार्थों को सम्पूर्ण रूप से जानता है, वही एक पदार्थ को समग्रता के साथ जान सकता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षाओ से एक–एक पदार्थ की अनन्तानन्त पर्याये होती है और इनका समस्त रूप से ज्ञान कषाय क्षय के पश्चात् ही सम्भव बनता है।

यही नही, कषाय–क्षय के पश्चात् भय की परिसमाप्ति भी हो जाती है। ऐसा साधक पूर्णत निर्भय हो जाता है क्योकि मोक्ष मार्ग की आराधना मे आस्था रखने वाला तथा तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्रतिपादित आगम के अनुसार आचरण करने वाला, अप्रमत्त विवेकवान मुनि ही क्षपक श्रेणी के योग्य होता है। ऐसा पुरुष छह कायो के जीव रूप लोक को सर्वज्ञ भगवान के आगमोपदेश से जानकर किसी भी प्राणी को भयभीत नही बनाता है। वह स्वय निर्भय होता है, और दूसरो को निर्भयता प्रदान करता है, उसके आसपास निर्भयता का पावन–प्रशान्त वातावरण स्वत निर्मित हो जाता है।

कषाय-विरति का मार्ग

जो साधक कषायो का क्षय कर देता है, उसे किसी से भी भय नही रहता तथा उससे भी किसी को भय नही रहता है। प्राणियो को शस्त्रो के द्वारा भय उत्पन्न होता है। ये शस्त्र दो प्रकार के होते है– द्रव्य शस्त्र और भाव शस्त्र। भाव शस्त्रो मे कषायो का मुख्य स्थान है। ये शस्त्र तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होते हैं और इनका अन्त अशस्त्र रूप सयम से ही होता है। सयम ही कषायविरति का राजमार्ग है।

साधना से ही सम्यग् दृष्टा होकर साधक समीचीन कषाय–दर्शी बन सकता है। आत्मा स्वय ही जब कषाय वृत्तियो का समीक्षण करने लगेगी, तभी उसे स्पष्ट रूप से अनुभूति होने लगेगी कि उसके मूल गुणो का घात करने मे ये कषाय कितने अनर्थकारी है। उन अनर्थकारी स्वरूप के दर्शन के बाद ही यह अन्तर्दृष्टि तथा अन्तर्जागृति

उत्पन्न हो सकेगी कि इन कषायो का क्षय किया जाना आवश्यक है।

आचाराग सूत्र के तृतीय शीतोष्णीय नामक अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक मे कहा गया है–

"जे कोह दसी, से माण दसी
जे कोह दसी, से माण दसी
जे कोह दसी, से माण दसी
जे माण दसी, से माया दसी
जे माया दसी, से लोभ दसी
जे लोभ दसी, से पिज्ज दसी
जे पिज्ज दसी, से दोस दसी
जे दोस दसी, से मोह दसी
जे मोह दसी, से गब्भ दसी
जे गब्भ दसी, से जम्म दसी
जे जम्म दसी, से मार दसी
जे मार दसी, से णरय दसी
जे णरय दसी, से तिरिय दसी
जे तिरिय दसी, से दुक्ख दसी

से मेहावी अभिणिवट्टिज्जा कोह च माण च माय च लोभ च पिज्ज च दोस च मोह च गब्भ च जम्म च मार च णरय च तिरिय च दुक्ख च। एय पासगस्स दसणे उवरयसत्थस्स पट्ठलियतकरस्स आयाण णिसिद्धा सगडब्भि, किमत्थि ओवाही पासगस्स ? ण विज्जई ? णत्थि।। 25।। त्ति बेमि।।

अर्थात् जो पुरुष क्रोध को (अनर्थकारी) देखता है, वह मान को (अनर्थकारी) देखता है और इसी प्रकार माया, लोभ, प्रेय, द्वेष, मोह को (अनर्थकारी) देखता है वह गर्भावास के, जन्म–मरण के तथा नरक व तिर्यंच गति के दु खो को भी देखता है, उन्हे अनर्थकारी मानता है तथा उनसे मुक्त होने का पुरुषार्थ प्रारम्भ करता है। कषाय जनित दु खो से मुक्त होने का उपदेश सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकरो का है। क्या सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी तीर्थंकरो को किसी प्रकार की उपाधि होती है ? नहीं होती है।

ऐसा स्वय तीर्थंकर देव फरमाते है।

क्रोधादि कषायो का "दर्शी" बनना अर्थात् इन कषायो के स्वरूप, इनके प्रकार, इनकी परिणति एव इनके दुर्विपाक का समीक्षण करना। यह एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक प्रक्रिया मानी गई है। जो साधक अपनी आत्मा के भीतर उतरता है और भीतर के स्वरूप को अपनी ज्ञान दृष्टि से देखता है, वही आत्म–दृष्टा कहलाता है। ऐसा आत्म–दृष्टा इन कषायो को भी देखता है और यह भी देखता है कि ये कषाय किन–किन रूपो मे आत्म–गुणो पर आघात पहुचाते है ?

इस कषायदर्शन से उसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि काषायिक परिणामो की जटिलता एव तीक्ष्णता कैसी होती है तथा उससे सफल सघर्ष करने के लिये उसकी सयम–साधना कितनी उत्कृष्ट होनी चाहिये।

कषायों का वर्गीकरण

कषाय के मूलत चार प्रकार है– क्रोध, मान, माया, और लोभ।

आचाराग सूत्र मे किया गया कषायो का वर्गीकरण आध्यात्मिक होने के साथ–साथ गूढ वैज्ञानिक एव मनोवैज्ञानिक भी है। सम्यकदृष्टा साधक के मन एव आत्मीय भावो मे जब काषायिक वृत्तिया सक्रिय होने लगती है, तब वह आत्मदृष्टा साधक कषायो के तारतम्य को तुलनात्मक रूप से देख सकता है। कषायो की तरतमता की दृष्टि से ही उनका शास्त्रीय वर्गीकरण किया गया है। पहले से दूसरा तथा दूसरे से तीसरे कषाय की जटिलता एव तीक्ष्णता सूक्ष्मतर होती हुई चली जाती है। इसीलिए कहा गया है कि जो क्रोधदर्शी होता है, वह मानदर्शी होता है, जो मानदर्शी होता है वह मायादर्शी होता है, जो मायादर्शी होता है, वह लोभदर्शी होता है आदि आदि। इस क्रम का अभिप्राय यह है कि क्रोध से मान की जटिलता एव तीक्ष्णता अधिक, तो उससे माया की अधिक। इस प्रकार इन कषायो की उत्तरोत्तर अधिक जटिलता एव तीक्ष्णता देखी जा सकती है, अनुभव की जा सकती है तथा उन्हे त्यागने का पुरुषार्थ क्रियान्वित

किया जा सकता है।

क्रोध कषाय

कषायो के इस क्रम मे क्रोध सबसे पहले है। उल्लिखित सूत्र– "से वता कोह च माण च " मे क्रोधादि के वमन की बात कही गई है। इस पर जिज्ञासु की जिज्ञासा सहज ही प्रस्तुत होती है–क्रोधादि का वमन कैसे किया जाय ? क्रोध उदर मे पडा स्थूल पदार्थ तो नही है, जिसे वमन कर दिया जाय। यह तो आत्म प्रदेशों से सम्बन्धित कर्म–वर्गणा के पुद्गल–स्कध रूप है और वे स्कध भी योग और कषाय रूप मन्द, मन्दतर, मन्दतम एव तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम अध्यवसायो के रग से अनुरजित परिणामो के कारण बधन को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार के अध्यवसायो से एक समय जिन और जैसे कर्म–स्कधो का आत्मा के साथ सम्बद्ध होने का प्रसग आता है, दूसरे समयो मे अन्य प्रकार के अध्यवसायो के कारण अन्य ही प्रकार के कर्म स्कध बद्ध होते हैं। इस प्रकार क्रोधादि से सम्बन्धित कर्म–स्कध एक ही तरह के नही होते है। फिर उनके वमन करने का विधान कैसे फलित हो सकता है ? यह जिज्ञासा अति महत्त्वपूर्ण है।

इसका समाधान प्राप्त करने के लिये एकावधानता, एकाग्रता की नितान्त आवश्यकता है। इसके लिए साधक बाह्य विषयो के परिवेशो मे सम्बन्धित अवलोकन का रूपान्तरण करके अन्तर्मुखी बने। इस अन्तर्मुखी अवलोकन में आन्तरिक ज्ञान–प्रज्ञा के चक्षु उद्घाटित करने होगे जो सम्यक् विशेषता से समन्वित हो।

ऐसे सम्यक् अवलोकन को ही समीक्षण ध्यान की सज्ञा दी गई है। इस प्रज्ञा–रूप चक्षु से शरीर मे रहे हुए समग्र तत्वो का समभावपूर्वक अवलोकन करना चाहिये। इस शरीर पिण्ड के भीतर जिन महत्त्वपूर्ण तत्त्वो का सन्धियुक्त जाल बिछा हुआ है, उसके छिद्रो मे अपनी आन्तरिक प्रज्ञा का अवरोध न करते हुए उन छिद्रो मे रहे विवरो से प्रतरो एव प्रतरो की सन्धियो का सम्यक् अवलोकन करना चाहिये। इस अवलोकन मे साधक को अत्यन्त धैर्य के साथ गतिशील

रहना चाहिये। तभी समीक्षण की शक्ति तीक्ष्ण होती हुई आगे आत्मप्रदेशो से सम्बद्ध कर्म–स्कधो तक पहुचाई जा सकती है। तब उसे और अधिक तीक्ष्ण बनाने की आवश्यकता होती है, क्योकि कर्म–स्कध सिर्फ क्रोधादि कषायो से ही सम्बन्धित नही हैं। वे तो अन्य कर्मों से भी सम्बन्धित रहते है। ये कर्म–स्कध भी एक दो नही, परन्तु अनन्तानन्त हैं जो असख्य–असख्य अध्यवसायो के रगो से अनुरजित होते है। उनमे वे बहुलता के कषायो से अनुरजित रहते हैं। उन कर्म–स्कधो मे से सिर्फ क्रोध–कषाय के स्कधो को तथा उनके तारतम्य को समीक्षण का विषय बनावे।

समीक्षण दृष्टि से 'कोहदसी' बने

समीक्षण–दृष्टि से जब क्रोध के कर्म–स्कधो का अवलोकन किया जाता है तो उनका अवलोकन करने वाला एव समग्र तारतम्य से युक्त उन स्कधो को सम्पूर्ण आत्म–प्रदेशो से विलग करने वाले "वता" की स्थूल प्रक्रिया है, किन्तु यह स्थूल प्रक्रिया भी साधक के द्वारा कब उत्पन्न हो सकती है ? इसका सकेत प्रभु महावीर ने सारगर्भित विधि से दिया है।

समीक्षण के लिये साधक की अवधानता तभी बन सकती है, जब वह सतत् प्रयत्नपूर्वक चरम लक्ष्य की उपलब्धि के लिए जागृत रहे। इस जागृति मे यदि कोई अवरोधक तत्त्व हैं तो उनको नमा कर उन्हे स्वय के नियत्रण मे करना एव स्वय की जागृति के माध्यम से स्वय नियता बनना अत्यन्त आवश्यक है।

क्रोधादि काषायिक भाव ऐसे अवरोधक तत्त्व है जिन्हे एक शास्त्रीय–शब्द द्वारा कहा जाय तो वह होगा "प्रमाद"। प्रमाद, जागृत दशा की सुषुप्ति है। द्रव्यत जागते हुए भी भावत सुषुप्त रहना अर्थात् अनवहित रहना प्रमाद है। अनवहित अवस्था का लाभ उठाकर ही अन्य सभी अवरोध रूपी तस्कर क्रियाशील हो जाते हैं–उभरते है। अत जब तक साधक प्रमत्त है, वह उपर्युक्त विधि से समीक्षण सम्बन्धी अवधानता को निरन्तर साध नहीं सकेगा, क्योकि साधक की

एकाग्रता प्रमत्ता से छिन्न–भिन्न हो जाती है। ऐसी दशा मे वह "कोह दसी" भी नही बन सकेगा।

यदि साधक पहले से भी अधिक क्षमता प्राप्त करके आन्तरिक शुद्धि की प्रबलता के साथ प्रमाद को पराजित कर देता है तो वह विजेता होकर "कोह दसी" और उससे आगे का भी दृष्टा बन जाता है। प्रमत्ता की पराजय से, उससे उत्पन्न होने वाली काषायिक एव अन्य विकृत वृत्तिया स्वयमेव पराजित हो जाती है। दूसरे शब्दो मे यो कहे कि इन सभी वृत्तियो को स्व–नियत्रण मे लेकर उनको पराजित करना ही प्रमत्त भाव को पराजित करना है।

तब साधक "कोह दसी" बनकर क्रोध के कर्म–स्कधो को देखने लगता है। वह उन कर्म–स्कधो के तारतम्य को विश्लेषित भी करने लगता है। इस विश्लेषण से यह ज्ञात हो जाता है कि कौनसा कर्म–स्कध कितनी रस–शक्ति को रखने वाला है तथा रस एव स्थिति–काल मर्यादा सम्बन्धी उसकी कितनी प्रगाढता या अल्पता है ? इस ज्ञान के साथ कर्म–स्कधो की मूल सत्ता प्रकम्पित होती है, क्योकि तब "कोह दसी" उन स्कधो का क्षय करने के लिये तत्पर बन जाता है।

किन्तु साधक के लिये निर्देश दिया गया है कि वह आगमो मे उल्लिखित विधेयात्मक आज्ञाओ के आधार पर ही आगे बढे। क्योकि उन आज्ञाओ मे अनुभूत तथ्य और सर्वज्ञता का सत्य भरा हुआ है। अन्तर्जागृति के साथ जब वह साधक वीतराग देव की आज्ञाओ का अनुपालन करेगा तभी वह क्रोधादि कषायो के कर्म–स्कधो का भली–भाति विश्लेषण कर सकेगा तथा उस विश्लेषण से उन्हे क्षीण करने का पुरुषार्थ सक्रिय बना सकेगा। सच्चे अर्थो मे तभी वह "कोह दसी" (क्रोध दर्शी) आदि बन सकेगा।

क्रोध की तरतमता

समीक्षण दृष्टि के विस्तार के पश्चात् ही यह विदित हो सकता है कि परिणामो की आन्तरिकता मे क्रोध की तरतमता किस रूप मे चल रही है ? क्रोध के कर्म–स्कध किस रीति से क्रियाशील हैं ? क्या वे

अनन्तानुबन्धी वृत्ति से सम्बन्धित हैं, अथवा अप्रत्याख्यानादि वृत्तियो से ? वे तीव्र रस वाले है, अथवा मन्द रस वाले ? और उनमे भी वे निकाचित है या अनिकाचित ? उनका किस अवस्था मे अवस्थान चल रहा है ? इस तथ्य का भी अवलोकन किया जाना चाहिये कि क्या वे कर्म–स्कध सत्तागत है ? यदि वे सत्तागत हुए तो उनका समीक्षण करने मे कठिनाई अधिक आयेगी और यदि वे उदयगत हैं तो कठिनाई अपेक्षाकृत कम होगी।

क्रोध की सत्तागत एव उदयगत अवस्थाओ की चर्चा करे, उससे पहले उसकी तरतमता की विभिन्न श्रेणियो की जानकारी जरूरी है। आध्यात्मिक दृष्टि से क्रोध के तारतम्य को, साथ ही अन्य कषायो के भी तारतम्य को परखने के लिए निम्न श्रेणियाँ वर्णित की गई हैं–

अनन्तानुबन्धी श्रेणी

समभाव को सर्वथा भूलकर जब कोई गहरे आक्रोश से भर उठता है और रोष की उस जटिलता को सुदीर्घ काल तक पकडे रहता है तब वह इस श्रेणी मे फँसा हुआ माना जाता है। इसे समझने के लिए शास्त्रो मे एक स्थूल उदाहरण दिया गया है कि जैसे पर्वत शिला टूट जाने से उसमे पड जाने वाली दरार का पटना असभव–सा होता है, उसी प्रकार अनन्तानुबधी क्रोध कब और कैसे समाप्त होगा–इसका अनुमान कठिन ही है। क्रोध की यह जटिलता एव तीक्ष्णता इतनी आत्मगुण–घातक मानी गई है कि इसके रहते सम्यक्दर्शन तक का वरण सभव नही होता है, जो साधना का मूलाधार है, मोक्ष महल का प्रथम सोपान है और जिसके अभाव से समस्त ज्ञान और अनुष्ठान साध्य (सिद्धि) की दृष्टि से निरर्थक है।

अप्रत्याख्यानावरण श्रेणी

यह श्रेणी प्रथम श्रेणी से कम जटिल एव कम तीक्ष्ण होती है, किन्तु इस श्रेणी मे फसी हुई आत्मा श्रावकत्व–आशिक सयम की साधना से वचित रहती है। इस श्रेणी के स्वभाव को परखने के लिए

सूखी मिट्टी की दरार का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे– तालाब का पानी जब पूरी तरह से सूख जाता है तो उसकी सूखी हुई मिट्टी मे जगह–जगह दरारे पड जाती है। लेकिन वे दरारे सुदीर्घकाल तक नही टिकती हैं। ज्योही पुन वर्षा आती है और तालाब मे पानी भरता है तो उसके सयोग से वे दरारे फिर भर जाती है। इस प्रकार इस श्रेणी के क्रोध की तीव्रता अनन्तानुबधी क्रोध से कम होती है।

प्रत्यास्ख्यानावरण श्रेणी

इस श्रेणी के क्रोध की तीव्रता अप्रत्याख्यानावरण क्रोध से भी कम होती है, किन्तु अगली श्रेणी सज्वलन क्रोध से तीव्र होती है। इस श्रेणी के क्रोध की उपमा रेत मे खींची गई-लकीर से दी गई है। जैसे– हाथ की अगुली से रेत मे खींची गई लकीर, ज्योही हवा का झौका चलता है, मिट जाती है, उसी प्रकार यह क्रोध कुछ समय तक ही टिकता है। इससे सकल सयम–साधुत्व गुण का घात होता है।

संज्वलन श्रेणी

यह क्रोध की मन्दतम श्रेणी है। यह साधक को कषाय के सर्वथा त्याग की ओर आगे बढाने वाली श्रेणी है। यह श्रेणी पानी मे खीची हुई लकीर के तुल्य वर्णित की गई है। अगुली से पानी मे लकीर खीची जाय तो यही होगा कि इधर लकीर खीची और उधर मिट गई। इसी प्रकार इस श्रेणी का क्रोध इधर आया और उधर गया–इतना अल्पजीवी होता है। सज्वलन क्रोध की अवस्था मे यथाख्यात चारित्र का घात होता है। इस श्रेणी से ऊपर उठने पर क्रोध कषाय की सम्पूर्णतया परि–समाप्ति हो जाती है।

इस प्रकार क्रोध के भाव–परिणामो एव कर्म–स्कधो के सम्यक् प्रकार से किये गये अवलोकन से उसकी तरतमता का विश्लेषण किया जा सकता है और तदनुसार किस प्रकार के पुरुषार्थ की उस वर्तमान श्रेणी से ऊपर की श्रेणी मे पहुचने के लिए आवश्यकता होगी, इसका सही–सही अनुमान लगाया जा सकता है।

क्रोध की अभिव्यक्ति

आधुनिक वैज्ञानिको ने इस अवस्था मे रहने वाले क्रोध–कर्म–स्कधो की अभिव्यक्ति के चित्र तक ले लिये हैं। इस अवस्था तक पहुँच कर वे क्रोध–कर्म–स्कध निर्जरित तो होने लगते है, किन्तु वे नये कर्म–स्कधो के निर्माण की सामग्री भी छोड जाते हैं, जिससे आत्मा और अधिक नवीन क्रोध–कर्म–स्कधो का सचय कर लेती है। यह प्रवाह अनादि काल से चल रहा है।

सत्तागत क्रोध–स्कधो का प्रारभिक अवस्था मे अवलोकन होना भी अत्यन्त कठिन होता है, किन्तु अशक्यता जैसी कोई बात नही है। हॉ, उदयगत स्कधो का अवलोकन अपेक्षाकृत सरलतापूर्वक हो सकता है। इसके लिये आवश्यकता होती है, समीक्षण दृष्टि की। जिस दृष्टि के द्वारा सत्तागत और उदयगत क्रोध के कर्म–स्कधो का सम्यक् अवलोकन करने की ऊर्जा प्राप्त कर ली जाय।

कर्म–स्कध दो रूपो मे उदय को प्राप्त होते है–एक स्वाभाविक रूप से सम्बन्धित कर्म का अबाधा काल समाप्त होने पर होने वाला कर्मोदय और दूसरा उदीरण विशेष द्वारा अनुदय प्राप्त सम्बन्धित कर्म–स्कधो को उदय प्राप्त बनाने पर होने वाला उदय। इन दोनो प्रक्रियाओ मे बाह्य निमित्त भी उभर कर सामने आते हैं। यद्यपि स्वाभाविक रूप मे होने वाले उदय मे भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावादि की अपेक्षा रहती है, तथापि उदीरणा मे बाह्य निमित्त प्रधान होता है।

यहॉ इतनी विशेषता ध्यान मे रखनी चाहिये कि बाह्य निमित्तो की अपेक्षा विपाकोदय एव उदीरणा के लिये ही है। जब किसी कर्म–स्कध का स्थिति काल पूर्ण होता है तो वह बाह्य निमित्त के अभाव मे भी अनायास उदय मे आकर निर्जीण–क्षीण हो जाता है। कभी–कभी निमित्त भले ही कमजोर हो, पर वे क्रोध–स्कधो को तो अवश्य उत्तेजित कर देते है।

क्रोध का उदय होने पर, क्रोध का प्रकटीकरण होना एव उसके निमित्त के यत्किचित् दोष को बडे रूप मे प्रकट करने का अथवा

निमित्त का दोष न होने पर भी उसमे दोष के आरोप का प्रसग पैदा करना विचारणीय बन जाता है। उस समय समीक्षण पूर्वक निमित्त के, व्यवहार का विश्लेषण करना अति आवश्यक बन जाता है तथा उसके प्रति होने वाले विषम भाव को समभाव मे परिणत करने की तत्परता बनाना साधक के लिये महत्त्वपूर्ण होता है।

विषम भाव को समभाव मे किस प्रकार परिणत किया जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधक को पारमार्थिक चिन्तन करना चाहिये कि जो भी कर्म–स्कध उदय मे आये है और उनका जो भी इष्ट या अनिष्ट विपाक हो रहा है, उसका कर्ता तो मै स्वय ही हूँ।

स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा,
फल तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट,
स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा।।

—आचार्य अमितगति

अर्थात् अतीत मे इस आत्मा ने जो भी, जैसे भी, शुभ या अशुभ कर्मों का उपार्जन किया है, उन्हीं का शुभाशुभ फल वह पाता है। दूसरो द्वारा दिया फल भोगना पडे तो अपने किये कर्म निरर्थक–निष्फल ही हो जाएँ।

आगम कहता है–

अप्पा कत्ता विकत्ता य, सुहाण य दुहाण य।

अर्थात् अपने सुख–दु ख का कर्ता–हर्ता स्वय आत्मा ही है।

इस प्रकार के पारमार्थिक चिन्तन से अवगत होना कि जो भी परिस्थिति मेरे समक्ष उपस्थित है, उसका उपादान कारण मै स्वय हूँ। इस अवगति से पर–निमित्त कारण के प्रति होने वाला राग–द्वेष उम्पन्न नही होगा और राग–द्वेष जन्य विषम भाव भी उत्पन्न न हो सकेगा।

निरन्तर इस प्रकार का समीक्षण करने से विषम भाव उत्पन्न ही नहीं होगा और एक समय ऐसी मानसिक स्थिति बन जायेगी कि विषम

भाव को समभाव मे परिणत करने की आवश्यकता ही नही रहेगी। साधक का समभाव प्रत्येक परिस्थिति मे अखण्डित ही बना रहेगा।

साथ ही कर्म–स्कधो का जैसा स्वरूप हो उसी स्वरूप मे उनका अवलोकन करना चाहिये तथा उससे होने वाली हानि–लाभ का चितन समता भाव से करना चाहिये। इस आन्तरिक एव सूक्ष्म अवलोकन मे बाह्य रूपक का आश्रय भी लिया जा सकता है। जैसे काला नाग घर मे घुस जाय तो हर कोई उसे बाहर निकाल देने मे ही अपना हित समझता है। वह उसे छेडने का प्रसग नही लाता हुआ यदि नाग स्वत ही बाहर निकल जाय तो बहुत प्रसन्न होता है। घर मे नाग के रहने पर परिवार के सभी सदस्यो को खतरा बना रहता है, क्योकि नाग न जाने किस समय किस को डस ले–अपना जहर उन पर छोड दे ? वह घर मे रहा और कभी किसी के द्वारा छेड दिया गया तो खतरा भयावह हो सकता है। जिस व्यक्ति को वह डस लेता है, उसके जहर का उस व्यक्ति के शरीरस्थ ग्रन्थि तत्र के सभी केन्द्रो पर असर पडता है। शरीर के भीतर मे विषवर्षी ग्रन्थि–तत्र भी होते हैं, तो अमृत ग्रथि–तत्र भी होते हैं। बाहर के मारक विष का प्रभाव होने पर अमृत–वर्षी ग्रन्थितत्र भी निष्क्रिय होने लगते हैं तथा विषवर्षी ग्रथि–तत्र सक्रिय, जिसके कारण बाहर के जहर तथा भीतर के जहर के सयुक्त हो जाने से एक नयी विष शक्ति का स्रोत फूट पडता है।

जैसे इस रूपक मे परिवार के सदस्यो की दशा बनती है, वैसे ही ये क्रोध–स्कध इस शरीर रूपी घर मे रहने वाले केन्द्रो एव ग्रथि–तत्रो रूप सदस्यो के लिये काले नाग का काम करते हैं। जब ऐसे कर्म–स्कध उदित होते अर्थात् अपना प्रभाव प्रकट करते है, तब नेत्रो के लाल हो जाने के साथ सर्प की जिह्वा की तरह रक्तिम विष–तरगे मनुष्य के ज्ञान–तत्र पर छा जाने लगती है।

क्रोध का वैज्ञानिक स्वरूप

शरीर मे एक कठमणी भी होती है, जिसे यौगिक भाषा मे विशुद्धि चक्र कहा जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक जिस ग्रन्थि को "थाइराइड"

कहते हैं। जिससे एक प्रकार के अमीयरस का स्राव होता है। वैज्ञानिक जिसे थायरोक्सिन कहते हैं, जिसके फलस्वरूप शरीर के समस्त केन्द्रो तथा ग्रथि–तत्रो को सपुष्टि प्राप्त होती है। इस रस का अनुसधान इसी शताब्दी मे किया गया है। इस रस के सिवाय इस प्रकार के अन्य रस भी भीतर मे स्रवित होते रहते हैं, जिनका शरीर–सस्थान के सचालन मे विविध रूपो मे उपयोग होता है।

क्रोध से होने वाली हानियो को स्पष्ट करते हुए मनोवैज्ञानिको ने भी कहा है–

भय और क्रोध की अवस्था मे जिस तरह मुह से लार पैदा करने वाली गिल्टियॉ ठीक से काम नही कर पाती हैं, जिससे ऐसी अवस्था मे मुह सूखा जाता है, उसी तरह यह गिल्टी भी ठीक से काम नही करती। अतएव जितने परिमाण मे वह गिल्टी साधारणत थायरॉक्सिन नामक रस का उत्पादन करती है, उतने परिमाण मे वह भय और क्रोध की अवस्था मे उस रस को उत्पादित नही करती। रक्त मे इस रस की कमी होने पर शरीर मे अनेक प्रकार की बिमारियॉ पैदा होती हैं। थायरॉक्सिन एक प्रकार का अमृत रस है। यह अमृत हमारे शरीर को स्वस्थ रखता है तथा रोगो का विनाश करता है। इसकी कमी होने पर शरीर की विनाशात्मक क्रियाओ की वृद्धि हो जाती है तथा मनुष्य का मृत्युकाल निकट आ जाता है। सिर दर्द, हृदय की धडकन, अपच आदि रोग बढ जाते हैं। शरीर की स्फूर्ति और तेज चले जाते है। इस तरह जिस व्यक्ति को जितना ही अधिक भय और क्रोध सताते है, उसका शारीरिक स्वास्थ्य उतना ही नष्ट हो जाता है।

इन अमीय रसो के अतिरिक्त विषवर्षी ग्रन्थियॉ भी भीतर मे मौजूद है, जिनका रस भी शरीर मे यथास्थान आवश्यक कार्यों के लिये प्रयुक्त होता है, किन्तु बहुत ही नियत्रित एव सीमित रूप मे। इन ग्रन्थि–तत्रो का ज्ञान भले ही भौतिक वैज्ञानिको को इसी शताब्दी मे हुआ हो, परन्तु सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी तीर्थंकर देवो के केवलालोक मे इतना ही नही, अपितु समूचा विज्ञान भासित था। इसीलिये उन्होने इस विषय मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण सकेत दिये हैं, जिनका ज्ञान समीक्षण

ध्यान के अभ्यास से प्राप्त किया जा सकता है।

आधुनिक वैज्ञानिको का क्रोध के स्वरूप के सम्बन्ध मे एक और मत भी है। वे क्रोध के प्रकटीकरण के बाद उससे उसी के होने वाले सक्षय को महत्त्व देते हैं। उनकी अभी तक की धारणा यह है कि जो क्रोध एक बार उत्पन्न हुआ और वह यदि पूरी तरह से अभिव्यक्त हो जाय तो क्रोध सदा के लिये समाप्त हो जाएगा। उसकी अभिव्यक्ति को न होने देने या उसे दबाने से उसका प्रवाह कायम रहता है। किन्तु उनकी यह धारणा आशिक है। वे इस दिशा मे गति–शील रहे तो उन्हे अपनी आशिकता का अनुभव भी हो जाएगा। इस अनुभव से ही वे अपने अनुसधान मे आगे बढ सकेगे। वे यदि इस अनुसधान मे वीतराग वाणी का आश्रय ले तो अभीष्ट लक्ष्य तक शीघ्र पहुच सकेंगे। उस समय उनको सही रूप से ज्ञात होगा कि अवयवो मे अभिव्यक्त क्रोध का सक्षय क्या सर्वथा एव सर्वदा के लिए सक्षय को प्राप्त हो गया ? नही, अवयवो मे अभिव्यक्त क्रोध अधिक नूतन क्रोध सम्बन्धी कर्म–स्कधो को निर्मित करने वाला बनेगा। अत आवश्यक यह है कि उदयगत क्रोध–ऊर्जा का न निरोध किया जाय और न ही उसे पूरी तरह अभिव्यक्त ही किया जाय। बल्कि इस क्रोध–ऊर्जा को क्षमा के पुट से रूपान्तरित कर देना क्रोध का विधिवत् सक्षय कहलायेगा।

वैसे वैज्ञानिको ने अपने प्रयोगो से यह सिद्ध किया है कि विचारो तथा भाव–परिणामो की भी तरगे तथा रूप व रग होता है। क्रोध का रूप भयावह तथा रग गहरा लाल माना जाता है। इसकी तरगे मन को उद्वेलित करने वाली होती है। क्रोध की स्थिति मे मनुष्य किसी भी प्रकार पूर्णतया शान्त नहीं रह सकता है। क्रोध की अवस्था ऐसी होती है कि मनुष्य के अन्त करण मे उबाल उठता है जो उसके मन और तन को उत्तेजित तथा विकृत बना देता है। इस कारण इस अवस्था मे जो भी कार्य किया जाता है उसका रूप भी दूषित हो जाता है। आधुनिक वैज्ञानिको के अनुसार क्रोध की ऐसी परिणति भी मानी गई है कि यदि क्रोध की अवस्था मे माता अपने बालक को स्तन–पान कराती है तो वह बालक रुग्ण हो जाता है। क्रोध की अवस्था मे लिया

गया भोजन भी विष बन जाता है।

क्रोध : स्वरूप-समीक्षण

क्रोध की अवस्था अत्यन्त उग्रता और प्रचण्डता से आक्रान्त होती है और इसका आक्रमण कारण एव परिणामो के अनुसार कभी धीरे–धीरे और कभी अचानक होता है। एक बार इसका प्रभाव गहरा हो जाता है तो बिरले ही इसके प्रभाव से अपने को बचा पाते है। काले नाग से जिनकी उपमा दी गई है, वैसे क्रोध के स्कध लाल–लाल चिनगारियो के साथ विष–वर्षा करते है, एव ज्ञानादि–केन्द्रो को प्रभावित करते हुए कठमणि के रस को अवरुद्ध कर देते है। परिणामस्वरूप शरीर मे विष ग्रथियो का नियत्रण समाप्त सा हो जाता है और उनका रस भी शरीर मे व्याप्त होने लगता है। परिणामस्वरूप पहले प्रत्यक्ष दृष्टि मे आने वाली शारीरिक क्षतियॉ-शुरू होती हैं क्योकि शरीर की अभिवृद्धि एव उसका सपोषण तथा सरक्षण करने वाली अमृत रस वर्षी ग्रथियॉ अपने कार्य सुचारू रूप से करना बन्द कर देती हैं। विषवर्षी ग्रथियो के सक्रिय हो जाने से शरीर का सम्पोषक रक्त कुछ मात्रा मे तो जल जाता है तथा जो अवशिष्ट रहता है उसमे विष का प्रभाव पैदा हो जाता है। ऐसी स्थिति मे भयकर शारीरिक एव मानसिक व्याधियॉ उत्पन्न हो जाती हैं।

क्रोध का स्वरूप–समीक्षण करते हुए प्रत्येक साधक को गम्भीर चितन करना चाहिये कि क्रोध क्यो उत्पन्न होता है ? क्रोध की अवस्था मे क्या क्षतियॉ होती है तथा क्रोध पर विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है ? समीक्षण विधि से क्रोध का विश्लेषण प्रत्येक साधक को करते रहना चाहिये ताकि क्रोध के शमन एव सक्षय के सफल उपाय अपनाए जा सके। जब तक क्रोध के स्वरूप एव उसके प्रभाव से होने वाली हानियो को अवलोकन करने का प्रयत्न नही किया जाएगा तब तक साधक के लिये क्रोध रूप महा चाण्डाल को परास्त करना शक्य नही बन सकेगा।

क्रोध–आन्तरिक सद्‌वृत्तियो के लिये अतीव घातक होता है, एक

भयानक शस्त्र के समान। अनादि कालीन कर्म–सम्पर्क के कारण आत्मा की प्राय सभी वृत्तिया विकार ग्रस्त बनी हुई रहती है। वृत्तियो का जिनकी वजह से वैकारिक रूप ढलता है, वे होते है काम–भोगो की विचारणा के केन्द्र। इन केन्द्रो व उपकेन्द्रो का पूरे शरीर मे जाल सा बिछा हुआ रहता है। शरीर के प्रत्येक अवयव से काम तृप्ति की न्यूनाधिक रूप से चेष्टा होती रहती है। जब किसी बाह्य तत्त्व को काम–दृष्टि से देखने का प्रसग आता है तब लोभ के रूप मे रागवृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। कामानुरजित लोभ की पूर्ति के लिये उस बाह्य तत्त्व को प्राप्त करने हेतु प्रत्येक सुलभ प्रयत्न किया जाता है। जब उन प्रयत्नो मे असफलता का भान होने लगता है, तब वह वृत्ति टेढा मेंढा रूप बनाती है और द्वेष के विकारो से ग्रस्त बन जाती है। उन प्रयत्नो मे यदि सफलता मिल जाती है तो उस समय मान का विकारी भाव जागता है।

अब अहकार ग्रस्त वृत्तियो पर किसी भी ओर से आघात होता है तो उस आघात पर प्रत्याघात करने के लिये क्रोध रूपी शस्त्र उभर कर आता है। यह शस्त्र पहले भीतर मे प्रकट होता है, फिर वह शरीर व्यापी बनकर बाह्य शस्त्रो को अपनाता है। कहा गया है–

क्रोध प्राणहर शत्रु, क्रोधोऽमितमुखो रिपु ।
क्रोध असि समुहातीक्ष्ण, तमास्त् क्रोध विवर्जयेत् ।।

क्रोध को प्राण हरण करने वाला अनेक मुखी शत्रु बताते हुए यही कहा गया है कि यह तेज धार वाली तलवार के समान है।

संहारक शस्त्र के रूप में क्रोध

विश्व मे विविध प्रकार के सहारक शस्त्रास्त्रो का अतीत मे जो निर्माण होता रहा है और वर्तमान मे हो रहा है उसके पीछे मूल मे क्रोध रूपी शस्त्र ही रहा हुआ है। यह शस्त्र उन समग्र आन्तरिक काम–वासनाओ से प्रभावित वृत्तियो का सरक्षण करने वाला होता है जो विभिन्न प्रकार की इच्छाओ से जागृत होती रहती हैं। ये बाहर की आयुधशालाएँ स्वत प्रेरित उतनी नहीं होती, जितनी कि बाहर से समझ

मे आती है। इनकी जडे क्रोध के स्कधो मे होती हैं और वह क्रोध जिन रूपो मे फूटता है और वह जैसा साघातिक रूप लेता है, उसके अनुसार ही ये आयुधशालाएँ सहार की मारक प्रवृत्तियो मे नियोजित की जाती है।

सहारक शस्त्र के रूप मे क्रोध जिस प्रकार भीतर और बाहर विनाश का ताडव रचता है, उससे सर्वप्रथम आत्मा की शुद्ध वृत्तियो का ही नाश होता है। क्रोध उनको प्रतिशोध के विकार से रग कर कलुषित बना देता है। शुद्ध वृत्तियो के नाश से अभिप्राय उनके विकृत एव दूषित हो जाने से है। जैसे बेडियो से जकडकर किसी को कारागार मे डाल देने से उसकी जिस रूप मे बाह्य दशा देखी जा सकती है, वैसी ही आन्तरिक दशा का अनुमान क्रोध की अवस्था मे किया जा सकता है। उस समय क्रोध के सहारक शस्त्र के आघातो से परमात्मा के तुल्य आत्मा का अवमूल्यन हो जाता है। आन्तरिक शक्तियो का जिस रूप मे हनन क्रोध के शस्त्र से होता है, वह हनन आत्मा के ससार परिभ्रमण को अधिक जटिल तथा अधिक दु खदायक बना देता है। यह निकाचित बध का एव बध की दीर्घकालीन स्थिति का भी कारण बनता है।

सहारक शस्त्रो के रूप मे आज विषमय रासायनिक शस्त्रो को मानवता विरुद्ध अत्यन्त जघन्य अपराध माना जाता है। लेकिन क्रोध के दुष्परिणाम उन शस्त्रो से कम भीषण नही हैं। क्रोध का विष मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओ को शून्य बना देता है और अपनी तीव्रता के अनुसार उनको अधिकाधिक निष्क्रिय कर देता है। इस क्रोध को कई मेगाटन शक्ति वाला बम भी कह सकते है जो जहाँ गिरता है, वहाँ की आत्म-गुणो की उपजाऊ भूमि को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। क्रोध के इस कुप्रभाव की विष-तरगे इस प्रकार फैल जाती है कि जो क्रोधी के तन-मन को दीर्घकाल तक स्वस्थ नही होने देती।

क्रोध एक प्रकार के ऐसे कर्म स्कधो का समूह होता है, जो उदय मे आने पर शरीर के अणु-अणु मे फैल जाते हैं और नवीन कर्मो

का सचय करने लग जाते हैं। उस समय क्रोध की प्रबल शक्ति अग्नि ज्वाला की भाति उष्ण तरगे प्रवाहित करती हैं तथा शरीर की आकृति पर उसकी छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। उस समय तो क्रोध के उस सहारक स्वरूप को स्थूल दृष्टि से भी देखा और महसूस किया जा सकता है। क्रोध क इस बाह्य अभिव्यक्त स्वरूप के फोटोग्राफ भी लिये जा सकते है, ऐसा बताया जाता है। बाहर से क्रोध का जो यह उग्र स्वरूप दिखाई देता है, उसे उपचार से द्रव्य–क्रोध की सज्ञा दी जा सकती है। वस्तुत क्रोध–कर्म के स्कध पौद्‌गलिक होने से द्रव्य क्रोध कह गये हैं और उनके निमित्त से होने वाला आत्मिक अध्यवसाय भाव क्रोध है। बाहर से नेत्रो की रक्तता, भृकुटि चढना, होठो का फडकना आदि जो उग्र या प्रचण्ड रूप दृष्टिगोचर होता है, वह दोनो प्रकार के क्रोध का ही कार्य है। अतएव उसे भी द्रव्य क्रोध कहा जा सकता है। इन दोनो प्रकार के क्रोधो का बीजाकुर की तरह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। ये परस्पर एक–दूसरे को उत्तेजित बनाते हुए विनाश–लीला की रचना करते हैं तथा सहारक रूप को दिखाते है।

क्रोधोत्पत्ति के कारण

शास्त्रकारो ने क्रोध की उत्पत्ति के चार मुख्य कारण बताये हैं।

1–क्षेत्र–खेत, जगल, चरागाह आदि खुली भूमि सम्पत्ति,

2–वस्तु–अर्थात् मकान, दुकान आदि आच्छादित भूमि,

3–शरीर–अर्थात् अपनी काया एव

4–उपाधि–उक्त तीन के अतिरिक्त शेष सारी साधन सामग्री।

आशय यह है कि जड पदार्थों के सम्बन्ध मे जो–जो कामनाएँ उपजती है और उन कामनाओ के अनुसार जब व्यक्ति उन पदार्थों को प्राप्त करने की चेष्टा मे लगता है, तब उन चेष्टाओ मे आने वाले आघातो के कारण पहले भीतर मे क्रोध की उत्पत्ति होती है और बाद मे बाहर उसके विविध रूप फूटते हैं। अत मूल रूप मे यह कहा जा

सकता है कि काम और कामनाओ की प्राप्ति के बीच मे आने वाली बाधाओ के कारण क्रोध अधिकाशत उत्पन्न होता है। गीता के दूसरे अध्याय मे इसी के अनुसार कहा गया है–"कामात्क्रोधोऽभिजायते।" तथ्य यह है कि किसी प्रकार की सासारिक कामना ही क्रोध को आमत्रण देना है। ससारी आत्मा तो न जाने कितने प्रकार की कामनाओ से ग्रस्त रहती हैं। ऐसी दशा मे क्रोध से दूर रहना बहुत ही कठिन कार्य होता है।

कामजयी ही क्रोधजयी हो सकता है। जो क्रोध को समीक्षण दृष्टि से देख लेता है और उससे दूर हटने का यत्न करता है वह तज़्जनित इच्छाओ का भी धीरे–धीरे अन्त करने वाला बन जाता है। "इच्छा हु–आगाससमा–अणतिया" के अनुसार आकाश के सदृश इच्छाएँ अनन्त हैं। इच्छाओ के शमन का पुरुषार्थ क्रोध का शमन करने के पुरुषार्थ से जुड जाता है।

प्रकारान्तर से क्रोध की उत्पत्ति जिन बाह्य कारणो से उत्तेजना पाती है, उन्हे इस प्रकार गिनाया है–

1–**दुर्वचन**– कटु वचन को तलवार की धार की उपमा दी जाती है। तलवार का घाव तो कालान्तर मे शीघ्र भर जाता है लेकिन दुर्वचन का घाव दीर्घकाल तक हरा रहता है। इस दृष्टि से जब एक व्यक्ति किसी प्रकार के दुर्वचन दूसरे के प्रति उच्चारित करता है तो सुनने वाला साधारणतया क्रोध से तिलमिला उठता है।

2–**स्वार्थपूर्ति में बाधा**– मन मे किसी उपलब्धि की कामना करके जब व्यक्ति उसकी पूर्ति हेतु बाह्य प्रयत्न प्रारभ करता है और अपने उस स्वार्थ को सफल बनाना चाहता है, तब उसके बीच जो भी बाधा उपस्थित करता है, उसके प्रति उग्र क्रोध भडक उठता है, क्योकि वह बाधा उसकी कामना पर आघात करती है।

3–**अनुचित व्यवहार**– जब कोई व्यक्ति अपने प्रति व्यवहार किये जाने की अमुक धारणा बना लेता है और सामने वाला जब उसके साथ उस धारणा की तुलना मे निम्न कोटि का व्यवहार करता है तो

उससे वह व्यक्ति क्रुद्ध हो जाता है। धारणा के सिवाय व्यवहार के सामाजिक मानदण्ड भी होते हैं और उनकी अपेक्षा से भी व्यवहार की अनुचितता का निर्णय लिया जा सकता है।

4–भ्रम– कई बार सामने वाले का अनुचित व्यवहार करने का कोई इरादा नही होता और इसी प्रकार कई कार्यो मे अहितकारी आशय नही होता फिर भी व्यक्ति वैसा होने का भ्रम कर बैठता है। उस भ्रम से भ्रमित होकर भी क्रोधावेश के चक्कर मे फस जाता है।

5–विचारभेद या रुचिभेद– प्राय देखा जाता है कि कई व्यक्ति अन्य व्यक्तियो से अपने विचारो से भिन्न विचार अथवा अपनी रुचियो से भिन्न रुचियॉ सहन नहीं कर पाते हैं और उनकी सहनशीलता का वह अभाव क्रोध का कारण बन जाता है।

वास्तव मे क्रोधोत्पत्ति के समस्त कारणो को गिन पाना या गिनाना सम्भव नही है, क्योकि वे कारण विभिन्न व्यक्तियो, उनके सामने वाली विभिन्न परिस्थितियो, उनके कारण उत्पन्न आन्तरिक परिणामो तथा उनसे फूटने वाले बाह्य व्यवहार से सम्बन्धित होते हैं। एक व्यक्ति के सम्बन्ध मे ही इस रूप मे क्रोध के असख्य कारण हो सकते है तो सबसे सम्बन्धित कारणो की सख्या की सीमा कैसे बाधी जा सकती है ? इसलिये कामना पर आघात को क्रोध की उत्पत्ति का मूल कारण मानना चाहिये।

क्रोध के प्रस्फुटित होने के प्रकार

क्रोध के प्रस्फुटित होने के प्रकार भी उपर्युक्त दृष्टि से सख्यातीत होते हैं किन्तु उनका एक वर्गीकरण शास्त्रो मे इस प्रकार किया गया है –

1. आत्म प्रतिष्ठित

अपने ही दोष से सकट उत्पन्न होने पर अपने ही ऊपर क्रोध उत्पन्न होना (किसी भी उत्तेजक विचारणा के आधार पर क्रोध का प्रस्फुटन अपने भीतर से ही हो अर्थात् क्रोध भीतर ही प्रतिष्ठित हो और

कारण पाते ही प्रस्फुटित हो जाये।)

एक विद्यार्थी अपना परीक्षाफल श्रवण कर अत्यन्त व्यथित–व्याकुल बन गया। परीक्षाफल उसको उद्वेलित बना रहा था। क्रोध का वेग तीव्रता धारण कर रहा था कि इतना कठोर परिश्रम करने के उपरांत भी कैसे वह अनुत्तीर्ण हुआ। इस दशा पर विचार करते–करते उसका क्रोधानल अधिकाधिक भडक रहा था। हीन विचारो का शिकार बनता हुआ वह अपने जीवन को भारस्वरूप महसूस करने लगा। वह विचार करने लगा कि मै अपना मुह पारिवारिक जनो और मित्रो को कैसे बताऊँ। मैं मुँह बताने लायक नहीं रहा। अनुत्तीर्णता की व्यथा उसके मन–मस्तिष्क को झकझोर रही थी। आखिर वह क्रोधजनित सज्ञाहीनता मे इस निर्णय पर पहुचा कि ऐसा जीवन जीने की अपेक्षा मरना ही श्रेष्ठ है। इस भावना के साथ वह वहाँ से आगे बढा–अपने निश्चय को पूर्ण करने। महरौली की कुतुबमीनार पर चढा और जीवन से हतोत्साह–निराश बना नीचे कूद पडा, अपनी जीवनलीला को समाप्त करने। जीवन को समाप्त करने की यह दशा घोर अज्ञानतापूर्ण ही कही जायेगी। ऐसी अज्ञानता से भवभ्रमण की श्रृखला बढने के साथ ही दु ख–द्वन्द्व की अवस्था अधिक प्रगाढ बनती है। यह घटना दिल्ली चातुर्मास के समय की है। यह स्वात्म प्रतिष्ठित क्रोध की दशा है।

2. परप्रतिष्ठित

किसी अन्य व्यक्ति की उत्तेजना से क्रोध का प्रस्फुटन हो अर्थात् क्रोध अपने आप भीतर से नही किन्तु अन्य व्यक्ति के किसी विचार या व्यवहार से जागे–तो वह क्रोध का पर प्रतिष्टित प्रकार कहलाता है।

एक साधक साधना के पथ पर गतिशील था। तपस्या मे ही अपने जीवन को सयोजित कर के चल रहा था, किन्तु उसके अन्तर मे क्रोध की ज्वाला धधक रही थी। उसके शमन की ओर उसका लक्ष्य नही बन पा रहा था। तप के पारणे के दिन गुरु महाराज के समक्ष उत्तेजित होकर कहने लगा–"आज मेरे तेले यानि अष्टम भत्त का पारणा है। आज्ञा हो तो भिक्षार्थ जाऊँ ?"

शिष्य की बात श्रवण कर गुरु महाराज शात भाव से मधुर शब्दो मे उसे कहते है–"शिष्य, पतला कर।"

शिष्य गुरु महाराज का आशय न समझने के कारण विचार करने लगा कि गुरु महाराज मेरी शारीरिक स्थूल दशा को पतला करने का सकेत फरमा रहे हैं। ऐसा सोच पुन तपाराधना मे लग जाता है। इस तरह तपश्चरण करते–करते शरीर शुष्क बन गया, अन्त मे वह सथारे का आग्रह करने लगा किन्तु पुन पुन गुरु महाराज का एक ही सकेत बार–बार सुनता रहा। उसे सुन–सुन करके उसका क्रोध भडक उठा, मस्तिष्क का सतुलन टूट गया और वह विवेकविकल बना उसी सज्ञा शून्य दशा मे अपने ही हाथ से अपनी अगुली मोड कर गुरु महाराज पर फेकते हुए क्रोधावेश मे तीव्र रोष भरे स्वर मे कहने लगा–"अब मैं क्या पतला करूँ ?" मेरा शरीर तो इतना पतला जीर्ण–शीर्ण शुष्क हो चुका है। मुझसे आप क्या चाहते हैं ?" आदि आदि।

गुरु महाराज ने मुस्कुराते हुए शात भाव से मधुर स्वर मे कहा–"तुमने इस देह को तो शुष्क कर लिया किन्तु तुम्हारे अतरग मे कषाय का रस प्रगाढता लिये हुए है। उसे पतला करो।" यह दशा पर प्रतिष्ठित क्रोध की है।

3 तदुभय प्रतिष्ठित

इस प्रकार पहले तथा दूसरे प्रकारो का मिश्रित रूप है। अपने और दूसरे के किसी विचार या व्यवहार के कारण जो क्रोध जगे वह तदुभय प्रतिष्ठित कहलाता है। प्रणय के पाश मे बधा एक नवविवाहित युवक ससुराल पहुचा पत्नी को लेने। युवक का स्वभाव तेज–तर्रार था। उसका वहॉ आदर सत्कार हुआ जब उसने पत्नी को साथ भेजने के लिये कहा, तब उसके ससुर ने दिशाशूल, वार वगैरह अनुकूल न होने से इन्कार कर दिया। इन्कार करते ही उसके क्रोध का पारा आसमान को छूने लगा। कहने लगा–"मै पुन नहीं आऊँगा, दूसरी शादी कर लूँगा।" शाति से समझाने पर भी वह नही माना तब ससुर

साहब के मुह से निकल गया—"अभी नहीं भेजेगे। आप पुन नहीं आयेगे तो यही समझ लेगे कि पुत्री विधवा हो गई।" यह सुनते ही वह क्रोध से बेभान हो गया, बोला—"अब मैं आपकी पुत्री को विधवा बनाकर ही रहूँगा।" उपाय सोचते हुए वहॉ से निकला और क्रोधावेश मे आत्मघात का निर्णय कर कुए मैं गिर पडा। निश्चय ही सपूर्ति हेतु ऐसी स्व—पर दाहक क्रोध की अवस्था को तदुभय प्रतिष्ठित क्रोध की सज्ञा दी गई है।

4. अप्रतिष्ठित

जो क्रोध किसी अन्य व्यक्ति के अथवा अपने निमित्त से न उत्पन्न होकर क्रोध कषाय के उदय मात्र से सहसा भडक उठे, वह क्रोध का अप्रतिष्ठित प्रकार माना गया है। इस प्रकार बिना किसी निमित्त के ही प्रस्फुटित हो जाता है।

इन चारो प्रकार के क्रोधो मे उपादान कारण आत्मा है, क्योकि क्रोध—रूप परिणति आत्मा की एक अवस्था है। निमित्त कारण दो प्रकार के होते है। अन्तरग और बहिरग। क्रोधो का अन्तरग निमित्त कारण क्रोध कषाय—चारित्र मोहनीय का उदय है। यह भी सब मे समान नही होता है। हॉ, अहिरग निमित्त कारण पृथक्—पृथक् है और इसी के आधार पर यह वर्गीकरण किया गया है। प्रथम प्रकार के क्रोध मे आत्मा, दूसरे मे आत्मातिरिक्त कोई अन्य सजीव या निर्जीव पदार्थ, तीसरे प्रकार मे दोनो और चतुर्थ प्रकार अन्तरग निमित्त कारण से ही उत्पन्न हो जाता है।

कभी—कभी इन कारणो मे सम्मिश्रण भी हो जाता है, तथापि प्रधानता—गौणता की विवक्षा करने से यह वर्गीकरण समीचीन ही है।

एक योगी महात्मा अपने शिष्य परिवार के साथ भू—मण्डल पर विचरण कर रहे थे। वे शात प्रकृति एव सौम्य आकृति के थे। जीवन मे सयम की साधना और तप—आराधना सम्यक् रूपेण कर रहे थे। क्रोध को तनु—तनुतर करते हुए अन्तरात्मा का दिव्यानन्द ले रहे थे।

शिष्यो को भी समय–समय पर यथायोग्य सयमानुकूल शिक्षा देते रहते। शिक्षा को श्रवण कर प्राय शिष्य हर्षोल्लास का अनुभव करते और आभार व्यक्त करते। पर वे समभाव के साथ राग–द्वेष को परे करते हुए चल रहे थे। एक शिष्य को वह शिक्षा त्रिशूल की भाति खटकती, द्वेषोत्पादक बनती। वह सोचने लगता कि क्या हम से ही स्खलनाएँ होती हैं, गुरु महाराज से नही ? वह प्रतिशोध लेने हेतु छिद्रो का अन्वेषण करता रहता। एक दिन उपयोग पूर्वक चलते हुए भी गुरु महाराज से कुछ असावधानी हो गई। शिष्य रास्ते मे ही चिल्लाने लगा और गुरु महाराज को प्रायश्चित के लिये बाध्य करने लगा। गुरु वस्तुस्थिति समझ उपेक्षापूर्वक शात भाव से आगे बढे, और उपाश्रय पहुचे, सध्या का प्रतिक्रमण किया। आलोचनादि श्रवण कर रहे थे तभी वह जोर से बोल उठा–"आप अपनी गलती का प्रायश्चित कर लीजिये।" इस बात को पुन पुन जोर–जोर से दुहराने लगा। आखिर समता एव धैर्य का बाध टूटा और गुरु भी क्रोधोन्मत्त बन गये। उन्होने जीवन की परिसमाप्ति कर डाली। यह है क्रोध की अप्रतिष्ठित दशा का भयकर परिणाम।

क्रोध प्रस्फुटित होने के प्रकारो मे एक अन्य वर्गीकरण का सकेत भी शास्त्रो मे मिलता है। इस वर्गीकरण के चार प्रकार हैं–

1. आभोगनिवित्तए : (आभोगनिर्वर्तित)

कामनायुक्त भोज्य पदार्थों की प्राप्ति मे बाधाओ के कारण क्रोध का फल जानते हुए भी जो क्रोध प्रस्फुटित होता है, वह अभोगनिवित्तए–आभोगनिर्वर्तित कहलाता है, अर्थात् भोगेच्छाओ की पूर्ति के निमित्त फल–ज्ञान के उपरान्त भी प्रस्फुटित होने वाला क्रोध ।

2. अणाभोगनिवित्तए : (अनाभोगनिर्वर्तित)

इसमे भोगेच्छाओ की पूर्ति के निमित्त से प्रस्फुटित होने वाले क्रोध के साथ फल–ज्ञान नही होता। क्रोधी यह नहीं जानता कि उसके क्रोध करने का उसे क्या फल भोगना पडेगा।

3. उवसंत-उपशान्त

जो क्रोध अभी तक उदय मे नही आया, सत्ता मे ही विद्यमान रहता है, वह उपशान्त क्रोध कहलाता है। क्रोध का यह प्रकार उपशात दशा मे रहता है। क्रोध भीतर ही भीतर उमडता–घुमडता है किन्तु क्रोध करने वाला उसे बाहर प्रकट नही होने देता है। बाहर से उस क्रोधी का ऐसा रूप दिखाई देता है जैसे–कि उसे किसी पर कोई क्रोध नही है।

4. अणुवसंतए-अनुपशान्त

जो क्रोध उदय मे आ चुका है वह अनुपशान्त कहा जाता है। जब यह क्रोध तीव्र रूप मे प्रस्फुटित होता है तो उसे उपशात करने का कोई प्रयत्न नही होता है। क्रोध करने वाला अपने क्रोध को खुले रूप से बाहर प्रकट होने देता है।

मूल रूप से क्रोध क्रोध–स्कधो का सम्बन्ध आत्म–तत्त्व के साथ है। जब तक क्रोध–कषाय का क्षय नही हो जाता, प्रकारान्तरो-से वह भीतर और बाहर प्रस्फुटित होता रहता है। इस प्रकार ससारी आत्माओ की नानाविध वृत्तियो, प्रवृत्तियो तथा अनेक प्रकार के निमित्तो के अनुसार बनते, बदलते और नये–नये रूपो मे ढलते रहते हैं। क्रोध की सलग्नता से मानव हृदय छोटी–छोटी घटनाओ के प्रभाव से आन्दोलित हो उठता है।

क्रोध के घातक दुष्परिणाम

एक साधक अति कठिन साधना कर रहा था। वह अत्यल्प वस्त्र रखकर शीत–ताप सहन करता, कभी–कभी अनशन करता और भी अत्यल्प भोजन से अपना निर्वाह करता। वह सोचा करता–ये सासारिक लोग किस तरह भोगोपभोग की लालसाओ मे फसे हुए है। एक दिन लोगो को साधक की साधना की जानकारी हुई तो वे श्रद्धाभाव से जरी की–रेशम की मालाएँ लेकर वहाँ पहुचे और साधक का सम्मान करने लगे। एक श्रद्धालु ऐसा था जो बहुत ही गरीब था।

वह कोई किमती माला नहीं जुटा सका। उसे तो अपनी श्रद्धा
करनी थी अत कच्चे सूत की ही एक माला बनाकर वह भी स
के पास पहुच गया। उसने भी अपनी माला साधक को अर्पित क
साधक का उपशात क्रोध यह देखकर भडक उठा कि शो
मालाओ के बीच यह कैसी अशोभनीय माला ?

अमृत–वचन निकालने वाला वह साधक तब अपने उ
प्रवाह मे कहने लगा–कुछ लोगो मे श्रद्धा नाममात्र को भी नहीं र
वे महात्माओ का अपमान करने चले आते हैं। ध्यान रखिये कि
लोगो को नरक मे भी स्थान नही मिलता है। साधक का क्रोध
रहा था, उस गरीब श्रद्धालु पर, किन्तु वह तो अपनी श्रद्धा के अ
मे आनन्दित हो रहा था। इस प्रकार श्रद्धालु का हृदय तो श्रद्
दीपक से प्रदीप्त था किन्तु साधक का हृदय क्रोध की ज्वाला से
रहा था। एक साधक की दीर्घकालीन साधना क्रोध की आग मे प
मे भस्म हो जाय, इससे अधिक क्रोध का घातक दुष्परिणाम और
हो सकता है ?

"गौतम कुलक" मे कहा गया है–

"कोहाभिभूया न सुह लहन्ति।"

अर्थात् क्रोध से पराजित व्यक्ति कभी सुख नहीं पाते। इ
मुख्य कारण है कि क्रोध अग्नि की ज्वाला के समान होता है।
भी इसके सामने आता है, उसको जला देने की चेष्टा करता
सामने आने वाला भले ही इससे जले या न जले किन्तु क्रोध
वाला तो इसमे बुरी तरह जलता और झुलसता ही है। क्रोधाग्नि
प्रकार से स्व–पर–दाहक होती है। क्रोधी स्वय भी जलता है
अपने ताप से दूसरो को भी अनुतप्त बनाता है। उसका मन ज
है जो क्रिया–प्रतिक्रयाओ के उतार–चढाव मे न जाने कितना व
सचित करता रहता है। उसका तन जलता है–अपने समस्त अ
से शक्ति–हीन, रुग्ण और जर्जरित बनता जाता है। सर्वोपरि उ
आत्मा के मूल सद्गुण धू–धू करजल जाते हैं और रह जात

दुर्गुणो का अनियत्रित समुदाय, जो आत्मशक्ति को सासारिकता की दासी बना कर रख देता है।

क्रोध जब इस प्रकार की अनेकानेक विकृत वृत्तियो का जनक बन जाता है तो वह आत्मा को अपनी मुट्ठी मे कैद कर लेता है, जिससे वह अपने मूल गुणो की रक्षा मे अपनी शक्ति का प्रयोग करने मे अक्षम बन जाय। वैसी अवस्था मे आत्मा तेजोहीन, मन असन्तुलित तथा शरीर जीर्णशीर्ण बन जाता है। बुद्धि का स्रोत भी कुण्ठित हो जाता है जिसके कारण हिताहित अथवा कर्तव्याकर्तव्य सूझ नहीं पडता। थायराइड आदि अमृत वर्षी ग्रथियो का कार्य भी अवरुद्ध हो जाता है। क्रोधाविष्ट व्यक्ति की विचारधारा स्वार्थपरायण बनकर नवीन स्फुरणाओ को ग्रहण करने मे अयोग्य हो जाती है। शनै–शनै उसकी विचारधारा का प्रवाह ही विषाक्त बन जाता है। इस विषाक्तता से सर्वाधिक हानि आत्मा के मूलगुणो अर्थात् आन्तरिक सद्‌गुणो की ही होती है। किसी भी अतिशय क्रोधी व्यक्ति के जीवन मे ऐसे सद्‌गुण विलुप्त से हो जाते हैं।

यह भी एक प्रकट तथ्य है कि क्रोधी अपने जीवन के सारभूत सद्‌गुणो को नष्ट करने के साथ अपने आसपास के वातावरण मे भी जहर भरता है और अपने व्यवहार मे आने वाले लोगो के दिलो मे भी जहर की झाडियॉ उगाता है। उसका स्व–पर–दाहक स्वरूप तब सबके सामने भलीभाति उजागर हो जाता है। आत्मा के मूल गुणो की विलुप्ति के साथ उसके आचरण मे कई अन्यान्य दुर्गुणो का समावेश भी हो जाता है। क्रोध के उत्पन्न दुर्गुणो का दुष्परिणाम रूप वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है।

1. परनिन्दा

क्रोधी व्यक्ति अपने चरित्र को देखना और समझना तो भूल जाता है परन्तु दूसरो की अधिकाशत झूठी निन्दा करने मे कुशल बन जाता है। उसके स्वभाव की यह विकृति उसे असामाजिक बना देती है।

2. दु.साहस

क्रोध के अपने दुर्गुण को क्रोधी अपना बल मान लेता है, जिसके

कारण भद्र व्यक्ति उससे दूर रहते है। वह उन्हे अपने से भयभीत समझ लेता है। इस कुविचार के कारण क्रोधी व्यक्ति दु साहसी भी हो जाता है। वैसे दु साहस का वह कुफल भुगतता रहता है, लेकिन क्रोधावेश के कारण सचेत नही बनता है।

3. वैर

अपने क्रोध के कारण वह उन व्यक्तियो का भी वैरी हो जाता है, जो उसे अपनी सदाशयता के कारण क्रोध से विलग होने की सत्शिक्षा देने का प्रयास करते हैं।

4. जलन

क्रोध की अग्नि ईर्ष्या का रूप धारण करके भी जलाती है और उस जलन मे क्रोधी अन्य किसी की उन्नति को भी फूटी ऑखो भी नही देख पाता है।

5 दोष दर्शन

क्रोधी अकारण ही दूसरो की प्रवृत्तियो मे मनकल्पित दोष आरोपित करता है और अपने प्रति रही हुई दूसरो की सहानुभूति खोता रहता है।

6 दुष्ट ध्यान

दोषी हमेशा दूसरो का अहित चिन्तन करता है और तरह—तरह की विचारणाओ मे क्रूर कल्पनाएँ करता रहता है।

7. कठोर वचन

मन की क्रूर विचारणाएँ वचन की कठोरता मे प्रकट होकर सबका दिल दु खाती है।

8 क्रूर व्यवहार

मन का दुष्ट ध्यान वचन की कठोरताओ के साथ व्यवहार की क्रूरता मे फूटता है तो क्रोधी सबको अपना शत्रु बना लेता है।

वस्तुतः पागल हो जाता है क्रोधी

मनोवैज्ञानिक क्रोध को अस्थायी पागलपन कहते है। क्रोधी को पागल की उपमा इसी कारण दी जाती है कि वह अपनी उत्तेजना की अवस्था मे वास्तव मे पागल ही हो जाता है। क्योकि वह सत्–असत् विवेक से विकल, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य की मीमासा मे मूढ एव मर्यादाओ के अतिक्रमण मे उदण्ड हो जाता है। उसके हृदय मे प्रेम एव स्नेह की धारा सूख जाती है, उदारता एव सहिष्णुता की भावनाएँ समाप्त–प्राय हो जाती है तथा सहानुभूति एव सहयोग की प्रवृत्ति भी दब जाती है। वह तो दुष्ट भाव, कठोर वचन तथा क्रूर व्यवहार का स्वामी बनकर पागलो की श्रेणी मे चला जाता है। वह अपने इसी पागलपन से अपने सम्बन्धियो, मित्रो एव स्नेहियो को अपना शत्रु बना लेता है। उसका स्वय का जीवन उसी के लिये भार स्वरूप बन जाता है। वह अपने गृहस्थ जीवन मे भी तरह–तरह के सकटो से गिर जाता है। उसके दुर्व्यवहार से उसकी आय के स्रोत सूखने लगते हैं और गुहस्थोचित व्यवहार से भी वह सबकी ओर से वचित हो जाता है।

क्रोध के दूरगामी परिणाम आत्मा को विविध कर्म बन्धनो से बाधते है, जिससे चौरासी लाख जीव योनियो मे उसका भव–भ्रमण निरन्तर चलता रहता है। वह कई बार निकाचित कर्मों का फल भोगते समय अपने आपको असहाय–सा महसूस करता है कि जैसे – अब वह कर्मों की श्रृखलाओ को तोड देने मे अक्षम होता जा रहा है। विकारी वृत्तियो के जटिल जाल मे फसा हुआ होने के कारण किसी की सत्सहायता का भी वह लाभ नही उठा पाता। कभी भावना का हल्का–सा झौका आता है और वह उस जाल को तोडकर बाहर निकलने के लिये एक कदम उठा भी लेता है तो फिर आगे का कदम नहीं उठता और पुन वह उसी जाल मे फस जाता है। जैसे गहरे कीचड मे से हाथी का बाहर निकलना कठिन हो जाता है, वैसे ही विकारो के कीचड के से आत्मा सरलता पूर्वक बाहर नही निकल पाती है। कदाचित् किसी सत्सगति के फलस्वरूप भावना का प्रबल झौंका आ जाता है तो ही वह उसे विचारो के कीचड से बाहर निकाल पाता है।

क्रोधी का पागलपन भी थर्मामीटर के पारे की तरह ऊपर–नीचे होता रहता है। क्रोध की तीव्रता एव मन्दता के परिणामस्वरूप ही कर्म–बध की अवधि भी घटती और बढती रहती है। उसका अनुभाग भी शून्य या तीव्र, तीव्रतर व तीव्रतम होता रहता है। क्रोध–विष का प्रभाव अगो के सक्षय रूप मे परिलक्षित होता है किन्तु उससे मुख्यत आत्मगुणो का ही सक्षय (दबाना) होता है। ऐसी अवस्था मे जीवन की दशा दयनीय बन जाती है। आत्महीनता से उसका मस्तिष्क कुठाग्रस्त हो जाता है और तरह–तरह के तनावो से भर जाता है। ऐसे क्रोधी के लिये शारीरिक कष्टो की तो सीमा ही नही रहती हैं। वह इहलोक मे दु खी होता है और परलोक को भी दु खी बनाता है। उसका समूचा आत्मस्वरूप एव जीवन क्षति–विक्षतियो से आकीर्ण और कटुतामय एव कलुषितता से मलिन बन जाता है। क्रोध रूपी महाचाण्डाल को मन मे बसा लेने पर क्रोधी स्वय महाचाण्डाल हो जाता है।

विष-तरंगों का प्रवाह

क्रोध रूपी विष की तरगे, जब किसी व्यक्ति की आत्मा, तन और मन मे प्रवाहित होने लगती है तो वह सभी ओर से अपने जीवन–विकास की सभावनाओ को गवा देता है। अपनी आत्मा के मूल गुणो को वह दबा देता है और अपने विवेक को शून्य बिन्दु तक पहुचाकर सज्ञाहीन–सा बन जाता है। इस सज्ञाहीनता का तब उसके जीवन पर व्यापक प्रभाव पडता है, जब उसका शूक्ष्म नाडी तत्र भी क्षत–विक्षत हो जाता है।

विष–तरगो के प्रभाव मे बहता हुआ क्रोधी मनुष्य इस तथ्य का चितन नही कर पाता है कि वह अपने क्रोधावेग के कारण वर्तमान जीवन मे भी कैसी–कैसी हानियो का शिकार बन रहा है। वह यह भी नहीं जान पाता कि उसके शरीर के महत्त्वपूर्ण सारयुक्त तत्त्व नष्ट हो रहे है और मस्तिष्क का शूक्ष्म नाडीतत्र भी आघातो से जर्जर बन रहा है। उसकी चितन क्षमता का भी ह्रास होता चला जाता है। एक क्रोधी व्यक्ति अपनी विवेक शून्यता से जीवन का सतुलन बिगाड लेता है तो अपने शरीर को "ब्रेन–हेमरेज", रक्तचाप, लकवा आदि भयकर

रोगो के आक्रमण के लिये खुला छोड देता है।

रक्तचाप जैसे रोग अधिकाशत क्रोधी व्यक्तियो को होते हैं। भादसोडा (मेवाड) की सत्य घटना है। मदिर की एक शिला को लेकर दो भाइयो के बीच उग्र विवाद हो गया। फलत क्रोधावेश की अधिकता के कारण एक भाई को ब्रेन हेमरेज हो गया और वह मृत्यु–मुख मे चला गया। इग्लैण्ड की एक घटना है। घुडदौड की प्रतियोगिता चल रही थी। उसमे एक घुडसवार को पक्की उम्मीद थी कि वही जीतेगा। किन्तु वह उस समय क्रोधावेग से कापने लगा जब उसका प्रतिपक्षी जीत गया। वह भीतर ही भीतर क्रोध से घुटता हुआ अपने घर पहुचा। उसकी पत्नी उसके स्वभाव को पहचानती थी। जैसे ही उसने अपने पति का वह रौद्र रूप देखा, तुरत उसने डाइनिग टेबल को उसकी पसद के विविध व्यजनो से सजा दी, जिससे वह खाने मे जुट कर अपने गुस्से को भूल जाय। किन्तु उस रोज उसके मस्तिष्क मे क्रोध की विष तरगो का प्रवाह सघातिक रूप से बह रहा था। उसने वह क्रोध अपनी पत्नी पर घातक रूप से निकालना चाहा। नाजुक स्थिति देखकर पत्नी ने उसे कमरे मे बन्द कर दिया तो उसने अपना गुस्सा अपने पर ही निकालना शुरू कर दिया और वह बुरी तरह घायल हो गया।

क्रोध की विष तरगो से ग्रस्त व्यक्ति न अपने घर मे अपना रहता है अैझर न हीअपने धधे या पेशे को लाभ व लोकप्रियता के साथ चला सकता है। वर्तमान जीवन से सम्बन्धित क्रोध की हानियो का दृश्य देखने चले तो स्थान–स्थान पर ऐसे दृश्य देखने को मिल सकते हैं। इन विष तरगो के प्रबल प्रवाह के क्षणो मे यदि आगामी जन्म की आयु का बन्ध होने का अवसर आ जाए तो क्रोधी व्यक्ति सर्प अथवा वैसी ही क्रोधप्रधान किसी अन्य योनि मे जन्म लेता है और पूर्वजन्म के कुसस्कारो से ग्रस्त रहता है।

अनेक असहिष्णुताओं का जनक-क्रोध

समीक्षण दृष्टि से जब अवलोकन किया जायेगा तो स्पष्टत

देखा जा सकेगा कि स्थान–स्थान और समय–समय पर क्रोध के कारण कई प्रकार की असहिष्णुता का जन्म होता है और उसके प्रभाव से परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व मे भाति–भाति के टकराव और सघर्ष उत्पन्न होते रहते हैं। सहिष्णुता को आत्मा का एक महत्त्वपूर्ण सद्गुण माना गया है। सहिष्णुता के आश्रय से ही अन्य कई सद्गुण इस जीवन मे प्रकट होकर पल्लवित एव पुष्पित होते हैं। ऐसे महान् सद्गुण सहिष्णुता पर ही क्रोध का सबसे कठोर आक्रमण होता है। जिसके फलस्वरूप सद्गुण नष्ट होते चले जाते हैं और दुर्गुण पनपने लगते है। क्रोध इस रूप मे दुर्गुणो का सर्जक तथा सहिष्णुता व उसके सहयोगी सदृगुणो का विध्वसक सिद्ध होता है।

जब सहिष्णुता जाती है तो क्षमा गुण का भी लोप होने लगता है। मुनि जीवन का प्रथम धर्म ही क्षमा माना गया है। क्योकि इसी गुण के बल पर मुनि इन्द्रिय विषयो से सम्बन्धित विकारो तथा मन की चचल दौडो पर नियत्रण रखने मे समर्थ होता है। क्षमा को रीढ की हड्डी के समान आधारभूत गुण माना गया है और यदि मुनि क्रोध के वश मे हो जाये तो वह अपने आधार को ही खो देने की स्थिति मे पहुच जाता है। सहिष्णुता और क्षमा एक ही धरातल पर पनपने वाले सद्गुण हैं। क्रोध का आवेग उन्हें समान रुप से क्षतिग्रस्त बना देता है।

क्रोध से उत्पन्न होने वाली प्रमुख असहिष्णुताएँ निम्न हो सकती हैं –

1. मानसिक असहिष्णुता

मनोवर्गणा से निमित्त द्रव्य मन जब भाव मन आधारशिला पर दृढ से दृढतर बनता हुआ कार्यरत होता है तभी वह सफलता प्राप्त करता है। मन की भूमि पर ही सप्रेषण, सग्रहक आदि शक्तियॉ उर्वरित होती हैं, जिनके अत्युच्चय विकास की दशा मे भीतर के अवस्थानो तक पहुँच पाने मे सुगमता हो जाती है। तब भीतर से फैला हुआ मानस तत्र सदा सक्रिय बना रहता है। इसी प्रकार निरन्तर अन्तर्यात्रा मे व्यक्ति आगे बढता रहे तो प्राण शक्ति की वृद्धि के साथ द्रव्य मन की

क्षमता भी अभिवृद्ध बन जाती है जिसके बल पर आन्तरिक अवस्थानो तक पहुँच पाने की शक्ति का अर्जन और सर्जन पर्याप्त मात्रा मे होता है। किन्तु ऐसी मानसिक सुव्यवस्था पर क्रोध का ऐसा मारक प्रहार होता है कि समूचा तत्र छिन्न–भिन्न हो जाता है। क्रोध के बार–बार के प्रहारो से तो द्रव्यमन की सामान्य क्षमता भी नष्ट होने लग जाती है। सारा तन्त्र शिथिल सा हो जाता है और विवेक शून्यता के साथ मानसिक तनाव तथा चिडचिडापन बढने लगता है। इससे जीवन मे विशेष प्रकार की दुर्बलता प्राप्त हो जाती है।

मानसिक असहिष्णुता से व्यक्ति स्वय की ऊर्जा का भी सदुपयोग नही कर पाता है। परिणाम इस रूप मे सामने आते हैं कि वैसा व्यक्ति अपने आप से असन्तुष्ट, हतोत्साह तथा अकर्मण्य होता चला जाता है। उसकी मिथ्या अहकारवृत्ति इतनी उभर आती है कि जरा–सी भी प्रतिकूल बात सुनकर वह क्रोध से तमतमा जाता है और अनुकूल बात मे भावातिरेक से स्वय को भूल जाता है। वह अकरणीय को पहले कर तो लेता है लेकिन फिर पश्चाताप की भट्टी मे झुलसने लगता है। क्रोधावेग मे दूसरो के प्रति अभद्रता एव अशिष्टता का व्यवहार करके अपने ही पैरो पर कुल्हाडी मारता रहता है। क्योकि वह हर वक्त अपनी ही मानसिक असहिष्णुता से ग्रस्त बना रहता है। इस ग्रस्तता से वह अपना अहित करता है, परिवार के साथ शाति से नहीं रह पाता है तो समाज मे भी दुर्व्यवस्था लाने का माध्यम बनता है। वह इस प्रकार समाज विरोधी बनकर छल, कपट, धूर्तता आदि अनेकानेक दुर्गुणो को अपनाता हुआ आत्म–विरोधी बन जाता है। उसके ऐसे दुर्गुण चारो ओर फैलते हुए नगर, ग्राम एव राष्ट्र को भी कलुषित बनाते है।

कभी–कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक व्यक्ति की मानसिक असहिष्णुता सारे विश्व को महाविनाशकारी युद्ध मे झोंक देती है। वर्तमान परिस्थितियो मे तो वह खतरा अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है। यदि किसी शक्तिशाली राष्ट्र का नायक मानसिक असहिष्णुता से ग्रस्त होकर अपना सतुलन खो दे और परमाणु शस्त्रो

का ताण्डव शुरु कर दे तो क्या सारा विश्व जल नही उठेगा ?

मानसिक असहिष्णुता से जब नैतिकता भी नष्ट हो जाती है तो अध्यात्म मार्ग के श्रुत धर्म एव चारित्र धर्म के विकास की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती है।

2. वैचारिक असहिष्णुता

विचारो के सृजन का केन्द्र मस्तिष्क है। लेश्याओ से अभिरजित चित्तवृत्तियॉ इसी केन्द्रस्थल से सयुक्त होती हैं। तब चित्त–वृत्तियो की विभिन्नताओ मे से एक जातीयता का स्वरूप बनता है। उसमे जब तुलनात्मक अवस्था से चित्त–वृत्तियो का उतार–चढाव होने लगता है तब विचार प्रवाह की सरिता बहने लगती है। उस सरिता का प्रवाहिक मुख्य रूप से विचार केन्द्र बनता है। उस केन्द्र के साथ ज्ञान वाहक नाडी–समूह जुडकर कार्यरत होने लगता है तथा विचारो के परस्पर प्रतिपक्षी स्वरूप के सकल्प–विकल्पात्मक बलाबल का निर्माण होता है। उस अवस्था मे मनुष्य के विचार केन्द्र ज्ञानवाहक नाडियो से विचारो को वहन करने मे सक्रिय हो जाते है, तब दोनो के बीच एक निर्णायक शक्ति का विकास भी होता है, जो केन्द्र–कार्यों के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार के निर्णय लेने मे सफल होती है। तदनन्तर निर्णीत विचार प्रवाह यथायोग्य "ग्लेण्ड्स" को प्रभावित करता है। फिर अगली रासायनिक प्रतिक्रियाओ के माध्यम से मन आदि तत्रो मे व्यवहृत होता हुआ वचन के माध्यम से निर्णीत विचार–प्रवाह प्रकट होता है। उस बाहर आये विचार प्रवाह को श्रोतागण हिताहित की कसौटी पर कस कर तुलनात्मक दृष्टि से परखते हैं और उसे व्यापक कल्याण की भावना से तोलते हैं।

उस निर्णीत विचार प्रवाह की बाहर जो प्रतिक्रिया होती है वह पुन श्रोतेन्द्रिय आदि के माध्यम से विचार प्रणेता के मस्तिष्क मे प्रवेश करती है, तब वह मस्तिष्क के विचार केन्द्र को आन्दोलित बनाती है। उस समय मस्तिष्क मे कार्यरत विचार केन्द्र एव उसका सहयोगी नाडी–तत्र यदि सक्षम और सतुलित रहे तो वे उस प्रतिक्रिया का

समीचीन समाधान अपने नये निर्णय के रूप मे निर्मित कर सकते है। किन्तु ऐसे समय में यदि क्रोध का आक्रमण हो जाये और वह घातक सिद्ध हो तो विचार केन्द्र तथा नाडी केन्द्र का सतुलन टूट जाता है, तथा क्षमता मन्द हो जाती है और समीचीन समाधान सामने नही आ पाता। तब वैसा व्यक्ति अपने पहले के विचार को ही पूर्ण उचित कहने लगता है और आलोचना सुनना बन्द कर देता है। इस रूप मे वैचारिक असहिष्णुता जन्म लेकर व्यक्ति के जीवन मे पुष्ट रूप लेने लगती है।

वैचारिक असहिष्णुता विचारो के स्वस्थ विकास को अवरुद्ध कर देती है और विचारो मे "हठवाद" को ऊपर ले आती है। वह असहिष्णुता इस रूप मे स्व–पर जीवन के लिए अहितकर और अलाभप्रद बन जाती है। यह वर्तमान एव भावी जीवन के दु खो का हेतु भी बन जाती है।

3. परगुण असहिष्णुता

गुण शब्द अनेक अर्थों मे व्यवहृत होता है। मुख्यतया किसी द्रव्य का वह अश, जो उस द्रव्य मे त्रिकाल स्थायी होकर रहता है और उस द्रव्य की विशिष्टता बतलाता है, गुण शब्द से कहा जाता है। तात्त्विक दृष्टि से सक्षेप मे दो तत्त्वो मे समग्र वस्तुओ का समावेश हो जाता है। वीतराग के सिद्धान्तानुसार ये दो तत्त्व हैं– चेतन और जड। वेदान्त दर्शन मे इन्हे ही ब्रह्म और माया के नाम से पुकारा गया है। साख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति के रूप मे इन दो तत्त्वो का आख्यान करता है। प्राय अन्य दर्शनो मे भी नामो के परिवर्तन के साथ इन दो तत्त्वो का निरुपण किया गया है।

इनमे से जड तत्त्व के मौलिक गुण–वर्ण, गध, रस और स्पर्श बताये गये हैं तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि चेतन तत्त्व के मौलिक गुण कहे गये हैं। यथा–

णाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
वीरिय उवओगो य, एय जीवस्स लक्खण ।।

– उत्तरा 28/11

तदनुसार आत्मिक गुणो के दो वर्ग किये गये है। एक वर्ग मे स्वाभाविक गुणो का समावेश किया गया है तो दूसरे वर्ग मे वैभाविक गुणो का। स्वाभाविक गुण निसर्गत ही होते हैं, जबकि वैभाविक गुण कर्मों के निमित्त से उत्पन्न होते है। वस्तुत वैभाविक गुण स्वाभाविक गुणो की ही विकृति है। आत्मा की अयथार्थ दृष्टि के कारण वैभाविक गुणो को बल मिलता है। ये वैभाविक गुण स्वाभाविक गुणो को ओझल करने वाले होते हैं। इन्हीं वैभाविक गुणो मे रस लेने वाला पुरुष अन्य व्यक्तियो के गुणो से असन्तुष्ट रहता है। वह यही सोचता है कि अन्य व्यक्ति मेरे समान गुणो से सम्पन्न न बने। वह कदाचित किसी को गुणो मे उन्नति करते हुए देखता है तो उसके मन मे एक आन्तरिक व्यथा उत्पन्न होती है। वह उस उन्नति मे अवरोध डालने की बात सोचने लगता है। तदनुसार वह अपनी शक्ति को दूसरे के गुणो को लाछित करने अथवा उनकी उन्नति को रोकने की चेष्टा करता है। इस दशा मे वह अपने प्रयत्नो को तेज करता रहता है। ऐसे पुरुष पर–गुण असहिष्णु कहलाते हैं।

ऐसे पर–गुण असहिष्णु पुरुष दूसरो के गुणो को लाछित करने या अवगुणो के रूप मे प्रकट करने मे अपनी जो शक्ति लगाते हैं, उससे दूसरो के गुणो का कुछ बिगडे या न बिगडे, परन्तु वे स्व–गुणो को तो छिन्न–भिन्न कर ही डालते है। पर–गुण असहिष्णुता के कारण उनके अपने गुणो का ह्रास होता चला जाता है।

असहिष्णुता स्वय एक बहुत बडा दुर्गुण है और उसमे भी पर–गुणो के प्रति असहिष्णु होना पर के साथ–साथ स्व–गुणो का भी घातक होता है। यह ऐसी वृत्ति है, जिसका कुप्रभाव उभयमुखी होता है। जिसकी वृत्ति पर–गुणो को सहन करने की नहीं होती है, वह स्वय के गुणो को सहन करने अर्थात् पचाने मे असमर्थ हो जाता है। ऐसा पुरुष यदि अपने मे किसी भी रूप मे किसी गुण का विकास देखता है तो उसे उन्हे बाहर प्रदर्शित करने की बडी उत्सुकता रहती है।

स्व–गुणो को प्रदर्शित करने की लालसा उसमे एक प्रकार की रिक्तता पैदा कर देती है। जिन स्व–गुणो को प्रदर्शन वह दूसरो के

सामने करता रहता है, वे वस्तुत गुणान्तर से बाहर आ जाते है और उन गुणो के स्थान पर दभ एव अहका कृपा-भाजन बन जाता है। इसी कारण किसी भी सच्चे साधक को गुण प्रदर्शन के भ्रम मे नही पडना चाहिये। क्योकि इससे दाभिक वृत्ति पनपती है। वस्तु स्वरूप के कथन मे भी कृत्रिमता न आये, इसके लिए उसे सतर्क रहना चाहिये।

इस प्रकार की सतर्कता तभी रह पाती है, जब साधक स्वगुणो को पचाने की क्षमता अर्जित कर लेता है। ऐसा साधक स्व-गुणो को विकसित करने के साथ-साथ भीतर रहे दुर्गुणो को त्यागने का यत्न भी करता है। वह आत्म-दृष्टा बन कर समीक्षण ध्यान से अन्तरावलोकन करता है तथा भीतर रहे हुए सद्गुणो व दुर्गुणो को चित्रवत् देखता है। यह देखकर ही वह सकल्पपूर्वक दुर्गुणो को बाहर निकालने तथा उनके स्थान पर सद्गुणो को प्रतिष्ठित करने का पुरुषार्थ करता है। इस वत्ति के साथ वह पर-गुणो की सराहना भी करता है तो उन्हे भी अपने जीवन मे अपनाने का प्रयत्न करता है। वह गुण-प्रशसक होता है तथा जहाँ भी गुण दिखाई दे उनका सम्मान करता है एव उन गुणो को भी आत्मसात करने का प्रयास करता है। इस प्रकार वह अपने जीवन को गुणालकृत बनाता रहता है। इस तरह गुण-सहिष्णुता जीवन-विकास की सहायिका होती है।

4. उन्नति सम्बन्धी असहिष्णुता

अपने स्वाभाविक गुणो-सद्गुणो का उत्तरोत्तर विकास करना वास्तविक उन्नति है। सामान्यतया उन्नति का इच्छुक व्यक्ति निज की उन्नति करना चाहता है। वह तदनुरूप प्रयत्नरत भी होता है किन्तु उन्नति रूप कार्य के कारणो का यदि उसे विज्ञान न हो तो वह उन्नति नही कर पाता। यही नही कभी-कभी वह अवनति की ओर भी गिरने लगता है। अत उन्नति चाहने वाले पुरुषो को उन्नति के हेतुओ का विज्ञान करना नितान्त आवश्यक है।

उन्नति की अभिलाषा या सकल्प या अकुर अन्तकरण मे

प्रस्फुटित होता है। स्वय की अन्तर्चेतना मे जिस रूप मे भी उन्नति की कामना अभिव्यक्त होती है, उस अभिव्यक्ति को पल्लवित, पुष्पित एव फलित करने के लिए निरन्तर उसके अनुरूप विचारो का प्रवाह बनाना चाहिए। ऐसा विचार प्रवाह ही उस अकुर को अभिवृद्ध करके फलवान बनाता है।

उन्नति एव तदनुरूप विचार जब अन्त करण मे दृढीभूत होते हैं, तब तदनुरूप उच्चार का प्रसग उपस्थित होता है। वाणी के माध्यम से उन्नति के अनुरूप विचारो का बाह्य वायुमडल बनना प्रारभ होता है। उन्नति का आचार शारीरिक परिधि मे व्याप्त हो जाता है। व्यक्ति–आचार–सहिता वैसी दशा मे उन्नति के अनुरूप जीवन का अग बन जाती है और अन्य अनेक व्यक्तियो को भी सहभागी बना लेती है। ऐसी स्थिति मे अन्य व्यक्तियो की उन्नति मे स्वय की उन्नति तथा स्वय की उन्नति मे पर की उन्नति के दर्शन होने लगते हैं। इसके अतिरिक्त उन्नति सम्बन्धी प्रभावकारी वायुमडल के बनते रहने से अवनति की परिस्थितियो का ह्रास होने लगता है, तब उन्नति की जडे अधिकाधिक मजबूत बनती जाती है।

जहॉ उन्नति का मूल मजबूत हो जाता है, वहॉ उन्नति के पौधो के पल्लवित, पुष्पित एव फलित होने मे देरी नही लगती। अतएव किसी भी प्रकार की उन्नति करने के इच्छुक पुरुष को सबसे पहले उन्नति को स्वय के भीतर समा लेने की क्षमता पैदा कर लेनी चाहिए। साथ ही वह तत्सबधी हेय, ज्ञेय एव उपादेय के विज्ञान को सम्यक् रीति से सम्पादित कर अभिष्ट उन्नति के लिये सलग्न हो जाए। उसे अपनी आन्तरिक वृत्तियो का सागोपाग निरीक्षण एव परीक्षण भी करते रहना चाहिये, ताकि उसके मन मे उन्नत्ति सम्बधी असहिष्णुता अकुरित न होने पाए।

5. वाणी सम्बन्धी असहिष्णुता

वाणी (वचन) कल्पलता के तुल्य कही जा सकती हे। किन्तु वाणी के विशिष्ट महत्त्व को समझने की आवश्यकता है। जिह्वा मिली

है तो बोलना ही इसका काम है, ऐसा सोचना योग्य नहीं है। जिह्वा वाणी का माध्यम है अत इसका महत्त्व बहुत अधिक बढ जाता है। कहा है कि वचन–वचन में बहुत अन्तर होता है। एक वचन औषध का काम करता है तो दूसरा वचन किसी के दिल पर गहरा घाव लगाकर घातक भी हो सकता है। वचन प्रीतिकारक भी होता है तो अप्रीतिकारक एव कटु भी। एक वाणी मनुष्य के अन्त करण मे शस्त्र का काम करती है तो दूसरी वाणी मर्हम का भी काम करती है। एक शब्द क्लेश का सर्जक बनता है तो दूसरा शब्द प्रशमता का वायुमडल निर्मित कर देता है। एक वचन स्वर्ग की भूमिका तैयार करता है तो दूसरा नरकागार की शय्या तैयार कर देता है। एक वचन दुर्गति का हेतु बनता है तो दूसरा सद्गति का नियामक हो जाता है। एक वचन आत्मशुद्धि का जनक होता है तो दूसरा आत्मा को मलिन बनाने का काम करता है। इसी वाणी के प्रयोग से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं तो मित्र भी शत्रु हो जाते है। एक वाणी प्रवाह ऐसा चलता है कि आत्मा ससार–समुद्र मे गोते लगाती ही रहती है तो दूसरा प्रवाह ऐसा बहता है कि आत्मा मोक्ष के परमानन्द मे तन्मय बन जाती है। द्रौपदी के एक वचन मे महाविनाशकारी महाभारत की भूमिका तैयार कर दी थी तो भगवान् महावीर के वचन ने चडकौशिक जैसे घोर विषधर की आत्मा को सन्मार्ग पर ला दिया था। इसलिये वाणी के रूप, वाणी की विधि तथा वाणी के प्रयोग के सम्बन्ध मे परिपक्व विज्ञान एव सदाशयी विवेक की नितान्त आवश्यकता है।

समीक्षण दृष्टि से वचन सबन्धी सम्यक् विज्ञान होने पर ही वाचिक सिद्धि की समुपलब्धि सभव होती है। प्रत्येक साधक को वचन शुद्धि का यह विज्ञान वीतराग वाणी से प्राप्त करना चाहिये। वीतराग देवो ने वचन शुद्धि के लिये बहुत ही शूक्ष्मता से उपदेश दिया है। सत्य होने पर भी वाणी की कटुता उस अप्रिय व असत्य बना देती है। एक ऑख वाले व्यक्ति को सत्य होने पर भी अगर "काना" कहकर पुकारे तो क्या वह कथन प्रिय महसूस होगा? किसी दोष को प्रियकारी वाणी के माध्यम से भी बताया जा सकता है। अधे को अधा कहने

वाला अधे के दिल को तोड देता है। उसी अधे को यदि प्रज्ञाचक्षु कहकर पुकारे तो क्या ये शब्द उसे प्रिय नही लगेगे ? कहने का आशय यह है कि वाचिक शक्ति के सत्प्रयोग के लिये वाचिक सहिष्णुता का होना जरूरी है। यह वाचिक सहिष्णुता तभी उपजती है जब मन के प्रतिकूल होने पर भी दूसरो के वाचिक प्रयोग को सहन करने की शक्ति उपार्जित की जाय।

वाचिक असहिष्णुता कटुता एव क्लेश का वातावरण बना देती है। इस असहिष्णुता को त्यागने के लिए मनुष्य को तटस्थ भाव अपनाना होगा। कोई उसे कुछ भी कहे, वह उसके विरुद्ध विषम वाणी का प्रयोग न करे। अपितु ऐसी समतामय वाणी का प्रयोग करे कि विषम वाणी का उच्चारण करने वाला भी समता–विभोर बन जाये। ऐसी वाचिक असहिष्णुता से वाचिक लब्धि की प्राप्ति होती है, जिसके फलस्वरूप उसकी वाणी नपी–तुली, सयमित, सतुलित तथा समता भाव से पवित्र बन जाती है।

6. शारीरिक असहिष्णुता

शारीरिक सामर्थ्य भी प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। गभीरता से चितन किया जाय तो सभी प्रकार की शक्तियो की आधारशीला शारीरिक शक्ति है। शारीरिक अवस्थान मे सहनशक्ति अर्जित करने की नितान्त आवश्यकता रहती है। इस शक्ति के अभाव मे शरीर के माध्यम से सभिष्ट कार्य की सिद्धि नही हो पाती है। किसी भी कार्य को सफलता पूर्वक सम्पादित करने के लिये शरीर प्रयोग अवश्यम्भावी है। वीतराग देव का कथन है कि सर्वोच्च सिद्धि–मुक्ति वही प्राप्त करता है, जिसे वज्रऋषभ नाराच सहनन प्राप्त होता है। शरीर जब अनुकूल–प्रतिकूल सस्पर्श को समभाव से सवेदन करने मे समर्थ होता है, तभी उस शरीर से किया जाने वाला कार्य व्यवस्थित रूप से सम्पन्न हो सकता है। इसके अभाव मे कदाचित् भगवान का नाम स्मरण करने मे भी बाधा पैदा हो ıकती है। साधक तो चाहता है कि तन्मयता के साथ प्रभुस्मरण मे तन–मन लगा दूँ,

किन्तु इधर वह स्मरण करने के लिए बैठता है और उधर मच्छर डक मार देता है या गर्म हवा का झौका बहने लगता है तो वह स्मरण से चलायमान हो जाता है तो यह उसकी शारीरिक असहिष्णुता कहलायेगी। वह प्रतिकूल सस्पर्श को सहन नही कर सका, इससे उसके कार्य की सिद्धि नही हो पाती।

शारीरिक असहिष्णुता के अभाव मे कोई भी कार्य, चाहे वह धार्मिक हो या ससारिक, भलीभाति सिद्ध नही हो सकता है। क्योकि असहिष्णु व्यक्ति कार्य के बीच मे ही झुझलाने लगेगा और अपने तन–मन का सतुलन बिगाड बैठेगा। साधारण से साधारण कार्य मे भी शारीरिक सहिष्णुता एव शारीरिक सामर्थ्य का योगदान अनिवार्य है। फिर आध्यात्मिक साधना मे शारीरिक क्षमता की कितनी अधिक आवश्यकता होती है इसे भलीभाति समझा जा सकता है। कहा गया है कि "शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्" यह भी एक कारण है कि उत्कृष्ट आध्यात्मिक साधना के लिए उत्कृष्ट सामर्थ्य वाले शरीर की अपेक्षा रहती है। इसी कारण उत्कृष्ट शारीरिक बल की अवस्था मे भी मोक्ष प्राप्ति का उल्लेख शास्त्रो मे हुआ है।

आत्मा से कर्मों को विलग करने के लिए उच्च कोटि की ध्यान साधना अपेक्षित है। उस ध्यान साधना मे यद्यपि मन का पूरा प्रावधान है तथापि मन शारीरिक सामर्थ्य के साथ सम्बन्धित होता है। शरीर मन के लिये ढाल और कवच का काम करता है। युद्ध मे प्रवृत्त योद्धा युद्ध करने मे कितना ही कुशल क्यो न हो, वह प्रतिपक्षी की ओर से आने वाले शस्त्र प्रहार से अपने शरीर को बचाने के लिये ढाल और कवच अवश्य रखता है और तभी वह युद्ध क्षेत्र मे सफलजा पूर्वक आगे बढता रहता है। ढाल और कवच की सुरक्षा भी बडी मजबूत होती है। अत मन रूपी योद्धा के लिये शरीर रूपी ढाल व कवच सुदृढ होना चाहिये। ऐसी अवस्था मे मन की ध्यान साधना निरबाध और सफल हो सकेगी।

शरीर का ऐसा सामर्थ्य शरीर सम्बधी विविध प्रक्रियाओ से प्राप्त किया जा सकता है। वे प्रक्रियाएँ इस प्रकार की होनी चाहिए, जिनसे

शरीर के अवयवो को परिश्रम की अवस्था मे रखा जा सके। इस प्रकार शारीरिक अवयव पुष्ट होने के साथ–साथ आने वाले आघातो को सहन करने मे सहिष्णुता प्राप्त की जा सकेगी। इस हेतु दैनिक कार्यों मे अवयवो को सम्यक् प्रकार से नियोजित किया जा सकेगा। इन प्रक्रियाओ मे यौगिक क्रियाएँ बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकेगी। इन के माध्यम से एकावधानता की शक्ति भी बढ सकेगी। ऐसा साधक साहजिक योग की साधना के माध्यम से ध्यान साधना मे अधिक अग्रसर बन सकता है।

शरीर के अवयवो की असहिष्णुता की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। क्रोध उनकी असहिष्णुता को बढाता रहता है, जिस पर समीक्षण भाव से नियत्रण स्थापित किया जाना चाहिये। यदि कर्णेन्द्रिय मे अप्रिय शब्दो का प्रवेश हो तो उस समय वैसी सहिष्णुता अपेक्षित है। उसमे द्वेष की अभिव्यक्ति रूप असहिष्णुता नहीं आनी चाहिये। अनुकूल शब्द श्रवण कर राग की अभिव्यक्ति भी असहिष्णुता की द्योतक है। यही चक्षु आदि अन्य इन्द्रियो की असहिष्णुता के सम्बन्ध मे समझना चाहिए। वस्तुत शब्द, शब्द है, रूप, रूप ही है, वह अपने आप मे न प्रिय होता है न अप्रिय, मनोज्ञता–अमनोज्ञता उसका स्वभाव नही है। श्रोत्र शब्द को श्रवण करता है और मन उस पर प्रियता–अप्रियता, मनोज्ञता–अमनोज्ञता का रग चढा देता है। इस रग की बदौलत आत्मा मे राग–द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न होती है। यदि शब्द को शब्द और रूप को रूप ही माना जाय और उस पर मनोज्ञता–अमनोज्ञता का रग न चढने दिया जाय तो साधक की समभावना एव सहिष्णुता खडित नहीं होगी। इस हेतु समभाव की सर्जना का अभ्यास किया जाना चाहिये, जिनसे अवयवो की परिपुष्टी एव सहिष्णुता सम्बन्धी क्षमता अर्जित हो सकेगी।

शरीर के अवयव सहिष्णु रहे तो अवयवी शरीर तो नितान्त असहिष्णु रहेगा ही। ऐसी कायिक असहिष्णुता समीक्षण योग की साधना मे बाधक बनेगी। अत समीक्षण ध्यान के माध्यम से अन्तर्यात्रा का आनन्द लेना चाहे तो कायिक सहिष्णुता परिपुष्ट रूप से अर्जित की

जानी चाहिये।

क्रोध-त्याग से सहिष्णुता का विकास

मानव जीवन सरिता के प्रवाह के समान निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। दोनो मे उतार–चढाव आना सहज–स्वाभाविक है। कभी नदी का प्रवाह बाड का रूप लेकर तट को छोडकर भी प्रसरित हो जाता है, कभी ऐसी स्थिति भी बन जाती है कि प्रवाह अत्यल्प हो जाता है। किसी स्थल पर ऊपर से तो नदी सूखी जैसी दिखाई देती है किन्तु जल–प्रवाह भूमिगत होकर बहता रहता है। मानव जीवन के प्रवाह की भी ऐसी ही विविध अवस्थाएँ चलती रहती हैं।

क्रोध जीवन मे जिस प्रकार विभिन्न प्रकार की असहिष्णुताओ को जन्म देता है, उसी प्रकार यदि समीक्षण दृष्टि से क्रोध का त्याग कर दिया जाय अथवा उपयोग पूर्वक उसे घटाया जाय तो कई प्रकार की सहिष्णुताओ का विकास भी किया जा सकता है। यहाँ ऐसी कुछ सहिष्णुताओ का विश्लेषण किया जा रहा है–

1. उन्नति-अवनति सहिष्णुता

कई व्यक्ति सूखी नदी को देखकर तिरस्कारपूर्ण कथन कर सकते हैं कि इसमे क्या धरा है ? किन्तु क्या उस अवनति सम्बधी तिरस्कार को सुनकर भी नदी अपनी स्वाभाविक सहिष्णुता को छोड देती है ? नही । मानव जीवन रूपी सरिता भी कई प्रकार के प्रवाहो के साथ बहती है। कभी ज्ञान प्रवाह को प्रबल बनाने की उत्सुकता के साथ प्रयास किया जाता है तो भावोर्मिया उमड कर सामर्थ्य–तट को लाघ जाना चाहती है। कभी मध्यम धारा से ज्ञानार्जन होता है तो कभी ऐसा अनुभव होता है कि जैसे ज्ञान–प्रवाह अवरूद्ध हो गया है। किसी समय अज्ञानरूप शुष्कता का आभाष भी होता है। वास्तव मे ऐसा होता नहीं है, क्योकि भीतर मे न्यूनाधिक रूप मे ज्ञान प्रवाह तो रहता ही है। किन्तु बाह्यदृष्टि वाले इस तथ्य को न जानने के कारण अवहेलना स्वरूप शब्द का प्रयोग कर देते हैं कि यह मुर्खाधिराज है, जडमति है या ज्ञानहीन है। इस अवनति सूचक व्यवहार से वह व्यक्ति विचलित

नही होता जिसने उन्नति—अवनति सबन्धी सहिष्णुता को हृदयगम कर लिया है। यह तभी बन सकता है, जब दूसरो की ऐसी वृत्ति देखकर उसको तिरस्कृत करने के लिए अनुचित शब्दो का प्रयोग न करे। शब्द प्रयोग ही नही, अपितु मन मे भी उसके लिये गलत चितन न लावे। समभाव के साथ उसका यथायोग्य समादर करते हुए चितन करे कि यह उतार—चढाव की अवस्था कर्मोदय एव वातावरण के प्रभाव से बनती तथा बदलती रहती है। ऐसे चितन से सहिष्णुता का विकास होता है।

समीक्षण ध्यान की भूमिका पर साधक इसी रूप मे श्रद्धान तथा आचरण के विषय मे भी चितन करने की आवश्यकता है। यह तो आतरिक समृद्धि सम्बधी प्रवाहो की बात है जो कि मुख्यतया पूर्ण साधको को सस्पर्शित करती है। किन्तु आशिक साधको के लिये आतरिक समृद्धि के साथ—साथ बाह्य भौतिक समृद्धि का भी सम्बन्ध जुडता है। इसके अन्तर्गत आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय, वैयक्तिक आदि अवस्थाओ का समावेश होता है। इस प्रकार की बाह्य भौतिक समृद्धि स्वरूप प्रवाह मे उतार—चढाव के प्रसगो पर अवनति की अवस्था को देखकर भी जो कभी असहिष्णु नही बनता और न दूसरो की अवनति को देखकर उनका अवमूल्यन करता है, वैसा आशिक साधक भी अवनति—सहिष्णुता को यथाशक्ति प्राप्त कर उस अनुपात से समीक्षण ध्यान की भूमिका का वरण कर सकता है।

2. उत्कर्ष-अपकर्ष सहिष्णुता

मानवीय जीवन की गरिमा विविध प्रकार से प्रस्फुटित होती है। शारीरिक सम्बन्ध से, अग—प्रत्यगो की उत्कर्षता कभी—कभी उससे उच्चस्तरीय सीमा को छू लेती है, जिससे अन्य जनो की दृष्टि मे वह शरीर दिव्य एव आकर्षक लगने लगता है। इस आकर्षण के प्रति कई नेत्र चुम्बक की तरह खिच जाते है और उस शरीर रचना को देखकर मुग्ध बन जाते हैं। बलभद्र मुनि की उत्कर्षपूर्ण शारीरिक रचना को देखने मे मुग्ध बनकर ही तो पनिहारिन ने घडे की जगह अपने पुत्र के

गले मे रस्सी बॉधकर उसे कुए मे उतारने लगी थी। सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप–स्वरूप को देखने के लिये स्वर्ग से देव दौड पडा था। श्रेणिक–चेलना तथा सती मृगावती आदि के कई प्रसगो से शारीरिक उत्कर्षता का द्योतन होता है।

ऐसी उत्कर्षता की अवस्था को देखकर पुरुष कई बार सहिष्णुता की परिधि को लाघकर कल्पना करता है कि मेरे समान शारीरिक सम्पदा किसी की नही है। इस धुन मे वह दूसरो को हीन तथा घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। इस रूप मे उसकी सहिष्णुता विछिन्न हो जाती है एव अन्य प्रगति को साधने मे वह अपनी शारीरिक शक्ति का सदुपयोग नही कर पाता। समीक्षण ध्यान साधना मे भी वह सफल नही हो पाता है।

वैसे ही पारिवारिक, सामाजिक तथा वैभव सबन्धी उत्कर्षताओ मे अहकारग्रस्त हो जाने वाले पुरुष समीक्षण ध्यान मे गति नही कर पाते है। कैसा भी उत्कर्ष हो, उसे अपने मन पर हावी नही होने देना चाहिये। स्वय के उत्कर्ष से हीन–उत्कर्ष वाले व्यक्तियो के साथ समभाव पूर्वक व्यवहार किया जाना चाहिये। स्वय के समान तथा स्वय से अधिक उत्कर्ष वाले व्यक्तियो के साथ ईर्ष्या नही आने देनी चाहिये। ऐसी सहिष्णुता को साकार रूप देकर समीक्षण ध्यान के माध्यम से अन्तरावलोकन की योग्यता प्राप्त की जा सकती है।

जीवन अनेकानेक विचित्र परिस्थितियो मे से गुजरता रहता है। कभी ऊपर, कभी नीचे तो कभी तिरछी गति करने का क्रम चलता रहता है। पर्याय की दृष्टि से भी शरीर विविध पर्यायो को धारण करता है। उनमे कभी अनुकूल पर्याय को धारण करता है तो कभी प्रतिकूल पर्याय को। कभी शारीरिक निरोगता रहती है तो कभी रोगो का सामना भी करना पडता है। व्यक्तित्त्व एव कर्तृत्त्व झूले के हिण्डोलो की तरह कभी ऊपर से नीचे उतर आता है। बौद्धिक सम्पन्नता होते हुए भी आर्थिक विपन्नता की अवस्था आ जाती है। पहले की समृद्ध पारिवारिक गरिमा भी न्यून बन जाती है। यश भी अपयश मे बदल जाता है। उत्कर्ष से जीवन दशा अपकर्ष की ओर

मुड जाती है। इन विविध अवस्थाओ के उतार–चढाव की परिस्थितियो मे प्राय व्यक्ति अपने आपको सन्तुलित नही रख पाते हैं और दैन्य, निराशा, हतवीर्यता या क्रोध मे भरकर असहिष्णु बन जाते है। उस समय मे दूसरो के प्रति कलुष एव विद्वेष की भावनाऍ भी उभर अरती है तो अपने प्रति भी भूतकाल के स्मरण के साथ हीन भावनाऍ जन्म ले लेती हैं। वैसे असहिष्णुतापूर्ण मानस मे कर्तव्याकर्तव्य का भान भी नही रहता है। व्यथा से भरी हुई वैसी आत्मा की दशा दयनीय हो जाती है।

ऐसी आत्मा ने समत्वमय चैतन्य स्वरूप को विस्मृत कर अपने स्वभाव से विपरीत विभावो को अपनाया तो उसकी वृत्तियॉ विभिन्न पर्यायो मे बिखर गई, जिससे उसका मूल ज्ञान केन्द्र ही उसकी पहिचान से निकल गया। यदि वह आत्मा स्वय का विज्ञान प्राप्त कर लेती और स्वय के स्वभाव से भिन्न अवस्थाओ को तटस्थ दृष्टा होकर देखती तो केन्द्र की मूल आधारशिला अपकर्ष–सहिष्णुता को पा लेती। जिन पुरुषो ने अपकर्ष–सहिष्णुता की वास्तविकता प्राप्त की एव तदनुसार सभी पर्यायो मे सहिष्णुता की पतवार को हाथो मे थामे रखा, वे विकट एव प्रतिकूल अवस्थाओ मे रहते हुए भी समीक्षण ध्यान की दिशा मे प्रयाण करने मे पीछे नही रहे। अत अपकर्षण सम्बन्धी सहिष्णुता भी महत्त्वपूर्ण है।

3. वैयक्तिक सहिष्णुता

प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अवस्था मे स्वय की योग्यतानुसार ही अपने व्यक्तित्व का अनुभव करता है। व्यक्तित्व जीवन का महत्त्वपूर्ण अग है। दूसरे शब्दो मे कहे तो व्यक्तित्वाभाव मे व्यक्ति आत्मारहित शरीर के तुल्य हो जाता है। व्यक्तित्व की अनुभूति से ही अपने जीवन का निर्माण कर सकता है। व्यक्तित्व की अनुभूति न हो तो जीवन का कोई विशेष मूल्य नही रहता। बाल्यावस्था मे बालक जब कुछ समझ पकडने लगता है तो वह अज्ञात मन स्थिति मे ही सही अपने व्यक्तित्व की अनुभूति करने लगता है। उसके भीतर मे व्यक्तित्व के महत्त्व का

गले मे रस्सी बॉधकर उसे कुए मे उतारने लगी थी। सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप–स्वरूप को देखने के लिये स्वर्ग से देव दौड पडा था। श्रेणिक–चेलना तथा सती मृगावती आदि के कई प्रसगो से शारीरिक उत्कर्षता का द्योतन होता है।

ऐसी उत्कर्षता की अवस्था को देखकर पुरुष कई बार सहिष्णुता की परिधि को लाघकर कल्पना करता है कि मेरे समान शारीरिक सम्पदा किसी की नही है। इस धुन मे वह दूसरो को हीन तथा घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। इस रूप मे उसकी सहिष्णुता विछिन्न हो जाती है एव अन्य प्रगति को साधने मे वह अपनी शारीरिक शक्ति का सदुपयोग नही कर पाता। समीक्षण ध्यान साधना मे भी वह सफल नही हो पाता है।

वैसे ही पारिवारिक, सामाजिक तथा वैभव सबन्धी उत्कर्षताओ मे अहकारग्रस्त हो जाने वाले पुरुष समीक्षण ध्यान मे गति नही कर पाते है। कैसा भी उत्कर्ष हो, उसे अपने मन पर हावी नहीं होने देना चाहिये। स्वय के उत्कर्ष से हीन–उत्कर्ष वाले व्यक्तियो के साथ समभाव पूर्वक व्यवहार किया जाना चाहिये। स्वय के समान तथा स्वय से अधिक उत्कर्ष वाले व्यक्तियो के साथ ईर्ष्या नही आने देनी चाहिये। ऐसी सहिष्णुता को साकार रूप देकर समीक्षण ध्यान के माध्यम से अन्तरावलोकन की योग्यता प्राप्त की जा सकती है।

जीवन अनेकानेक विचित्र परिस्थितियो मे से गुजरता रहता है। कभी ऊपर, कभी नीचे तो कभी तिरछी गति करने का क्रम चलता रहता है। पर्याय की दृष्टि से भी शरीर विविध पर्यायो को धारण करता है। उनमे कभी अनुकूल पर्याय को धारण करता है तो कभी प्रतिकूल पर्याय को। कभी शारीरिक निरोगता रहती है तो कभी रोगो का सामना भी करना पडता है। व्यक्तित्त्व एव कर्तृत्त्व झूले के हिण्डोलो की तरह कभी ऊपर से नीचे उतर आता है। बौद्धिक सम्पन्नता होते हुए भी आर्थिक विपन्नता की अवस्था आ जाती है। पहले की समृद्ध पारिवारिक गरिमा भी न्यून बन जाती है। यश भी अपयश मे बदल जाता है। उत्कर्ष से जीवन दशा अपकर्ष की ओर

मुड जाती है। इन विविध अवस्थाओ के उतार–चढाव की परिस्थितियो मे प्राय व्यक्ति अपने आपको सन्तुलित नही रख पाते है और दैन्य, निराशा, हतवीर्यता या क्रोध मे भरकर असहिष्णु बन जाते है। उस समय मे दूसरो के प्रति कलुष एव विद्वेष की भावनाएँ भी उभर अरती है तो अपने प्रति भी भूतकाल के स्मरण के साथ हीन भावनाएँ जन्म ले लेती है। वैसे असहिष्णुतापूर्ण मानस मे कर्तव्याकर्तव्य का भान भी नही रहता है। व्यथा से भरी हुई वैसी आत्मा की दशा दयनीय हो जाती है।

ऐसी आत्मा ने समत्वमय चैतन्य स्वरूप को विस्मृत कर अपने स्वभाव से विपरीत विभावो को अपनाया तो उसकी वृत्तियाँ विभिन्न पर्यायो मे बिखर गई, जिससे उसका मूल ज्ञान केन्द्र ही उसकी पहिचान से निकल गया। यदि वह आत्मा स्वय का विज्ञान प्राप्त कर लेती और स्वय के स्वभाव से भिन्न अवस्थाओ को तटस्थ दृष्टा होकर देखती तो केन्द्र की मूल आधारशिला अपकर्ष–सहिष्णुता को पा लेती। जिन पुरुषो ने अपकर्ष–सहिष्णुता की वास्तविकता प्राप्त की एव तदनुसार सभी पर्यायो मे सहिष्णुता की पतवार को हाथो मे थामे रखा, वे विकट एव प्रतिकूल अवस्थाओ मे रहते हुए भी समीक्षण ध्यान की दिशा मे प्रयाण करने मे पीछे नही रहे। अत अपकर्षण सम्बन्धी सहिष्णुता भी महत्त्वपूर्ण है।

3. वैयक्तिक सहिष्णुता

प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अवस्था मे स्वय की योग्यतानुसार ही अपने व्यक्तित्व का अनुभव करता है। व्यक्तित्व जीवन का महत्त्वपूर्ण अग है। दूसरे शब्दो मे कहे तो व्यक्तित्वाभाव मे व्यक्ति आत्मारहित शरीर के तुल्य हो जाता है। व्यक्तित्व की अनुभूति से ही अपने जीवन का निर्माण कर सकता है। व्यक्तित्व की अनुभूति न हो तो जीवन का कोई विशेष मूल्य नही रहता। बाल्यावस्था मे बालक जब कुछ समझ पकडने लगता है तो वह अज्ञात मन स्थिति मे ही सही अपने व्यक्तित्व की अनुभूति करने लगता है। उसके भीतर मे व्यक्तित्व के महत्त्व का

अस्पष्ट–सा अकन हो जाता है। तब उस व्यक्तित्व का पोषण करने के लिये वह प्रत्येक कार्य मे अपने आपको नियोजित करने की चेष्टा करता है। यद्यपि उस अवस्था मे वह व्यक्तित्व के मूल्य को स्पष्ट रूप से नही जान पाता है, फिर भी शरीर पर्याय के साथ उसकी सहज एव स्थायी भाव की वृत्ति बन जाती है। जब कभी उसके व्यक्तित्व को ठेस पहुचती है तो वह खिन्नता का अनुभव करने लगता है। इसके साथ ही उसके व्यक्तित्व को सवर्द्धन करने वाला सम्मान मिलता है तो वह प्रफुल्लता का अनुभव भी करता है और उस दिशा मे आगे बढने की अप्रत्यक्षरूप से चेष्टा करता है।

व्यक्तित्व सम्बन्धी ऐसी वृत्ति के साथ जब वह बालक बडा होता है और व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष मूल्याकन करने लगता है, तब वह व्यक्तित्व के निमार्ण से सम्बन्धित हेतुओ से भी परिचित हो जाता है। व्यक्तित्व को कब ठेस लगती है और कब प्रेरणा मिलती है, इसका विज्ञान भी वह कर लेता है। व्यक्तित्व सम्बन्धी समस्त दृष्टियो का ज्ञाता होने पर जब वह व्यक्तित्व का मूल्याकन करने मे भलीभाति समर्थ हो जाता है, उस समय वह यदि स्वय के व्यक्तित्व का अहकार न करे तथा अपने स्वभाव व व्यवहार को कोमल एव विनम्र बनाये रखे तो इसका व्यक्तित्व अथवा वैयक्तिक सहिष्णुता विकसित होने लगती है। ऐसी मानसिकता मे वह एक ओर स्वय के व्यक्तित्व को सार्थकता का निखार दे देता है तो दूसरी ओर अन्य व्यक्तियो के व्यक्तित्व को भी सम्मान देता हुआ दूसरो के जीवन–विकास मे योग्य सहायक बन जाता है। वह अपने से हीन व्यक्तित्व वाले पुरुषो का कभी तिरस्कार नही करता, बल्कि छोटे बच्चो के साथ भी ऐसा स्नेहिल व्यवहार करता है कि बच्चो के यथोचित व्यक्तित्व विकास मे भी सहयोग मिल जाता है। वह सभी व्यक्तियो के जीवन की परिस्थितियो को समभाव से देखता है एव करुणाभाव से ओतप्रोत होकर दूसरो को उनकी योग्यता के अनुसार अपने–अपने व्यक्तित्वो के सम्यक् विकास की प्रेरणा देता है। उन व्यक्तियो के व्यक्तित्व को क्षति पहुचाने वाली बोतो को जिन रूपो मे वह देखता है उनके सशोधन के लिए उन्हे सतुलित स्वरूप मे सुमधुर

उपदेश भी देता है।

वैयक्तिक सहिष्णुता के धनी ऐसे पुरुषो के ऐसे व्यवहार से कई पुरुषो का व्यक्तित्व सफलता पूर्वक निखरता है। यह अलग बात है कि कोई व्यक्ति उनके स्नेहिल व्यवहार को न समझ कर उनके निमित्त से स्वय के व्यक्तित्व का भव्य निर्माण न कर पाते हो। परन्तु ऐसे स्नेहिल पुरुषो का सब ओर व्यापक प्रभाव पडता है। ऐसे स्व–पर सुधारक व्यक्तित्व कस निर्माण तभी हो पाता है जब कोई व्यक्तित्व सहिष्णुता को अपने साथ अपनी छाया की तरह लेकर चले। ऐसा पुरुष हीन, क्लीष्ट अथवा विद्रोही व्यक्तित्वो के प्रति भी समता की भूमिका पर खडा रहकर असहिष्णुता का व्यवहार नही करता। इस विकसित सहिष्णुता के साथ ही स्वय की आत्मसिद्धि हेतु समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया को भव्यविधि से अपना सकते हैं।

4. पारिवारिक सहिष्णुता

पैतृक सदस्यो वाला समूह परिवार कहलाता है। यह एक छोटी इकाई के रूप मे रहता है। सामान्यतया परिवार के सदस्यो की व्यवसायवृत्ति, भोजनादि की व्यवस्था अथवा आवश्यकताओ के अनुसार वस्तुओ की सपूर्ति सयुक्त रूप से हुआ करती है। इसमे एक दूसरे का परस्पर आत्मीयतामय सम्बन्ध रहता है, जिसके कारण वे एक दूसरे के सुख–दु ख मे पारस्परिक योगदान करते है। परिवार मे भी अनुशासन की आवश्यकता होती है, किन्तु वह अनुशासन, आत्मीयता की अनुभूति को लिये हुए ही होना चाहिये। जिन परिवारो मे ऐसा अनुशासन होता है, उनकी पारिवारिक गरिमा तथा समाज मे महत्त्व की स्थिति अभिव्यक्त होती है। ऐसे परिवारो के साथ अन्य परिवार वाले स्पर्धा करके स्वय की उन्नति साधने के इच्छुक बनते है। इसके विपरीत कुछ परिवार ऐसे भी रहते है जो समुन्नत परिवारो के साथ ईर्ष्या वृत्ति को पनपाते हैं। ईर्ष्या के वशीभूत होकर वे समुन्नत परिवारो को छिन्न–भिन्न एव विश्रृखलित करने के जघन्य प्रयास भी करते रहते हैं।

यहॉ पर भी सहिष्णुता और असहिष्णुता का प्रश्न सामने आता

है। असहिष्णु परिवार उपर्युक्त हीन प्रयास कर सकते है, किन्तु जिन परिवारो मे पारिवारिक सम्बन्धो को लेकर सहिष्णुता की विकसित वृत्ति होती है। उनके सदस्यो का पारस्परिक व्यवहार एक दूसरे के स्वभाव को पहचान लेने के कारण बहुत ही सौहार्द्रपूर्ण होता है। वे किसी सदस्य की कोई भूल देखकर भी असहिष्णु नही बनते, अपितु एक दूसरे के सहयोग से भूल को सुधारने मे लग जाते है।

परिवारो मे जब इस प्रकार की सहिष्णुता वृत्ति का विकास होता है तो उनकी सामाजिक क्षेत्र मे एक गरिमा स्थापित हो जाती है। प्रत्येक सदस्य के मन मे दायित्व की भावना सुदृढ बन जाती है कि उसे न तो पारिवारिक गरिमा को स्वय की अह वृत्ति से कलकित करना है तथा न ही विविध प्रकार के पारिवारिक कर्तव्यो से उसे स्खलित होना है। ऐसे सदस्य तब सहज स्नेह के साथ विश्रृखलित परिवार को भी स्वस्थ निमार्ण करके आगे बढने की प्रेरणा देते है। समुन्नत परिवारो के ऐसे सदस्यो का यही चितन रहता है कि मुझमे अहकार पैदा न हो और मै सबकी यथाशक्ति सेवा करता रहूँ। ऐसे चिन्तन से असहिष्णुता के पैदा होने और पनपने को कोई अवसर नही रहता है, क्योकि परिवारो के मुख्य व्यक्तियो मे ऐसी सहिष्णुता समाई रहती है कि वह अन्य सदस्यो के लिये भी आदर्श तथा अनुकरणीय बन जाती है।

मुख्य व्यक्तियो एव सदस्यो की दृढ सहिष्णुता के आधार पर ही पारिवारिक सहिष्णुता का निर्माण होता है। ऐसे परिवार चाहे आशिक रूप ही सही—आध्यात्मिक ध्यान साधना की योग्यता भी प्राप्त कर लेते हैं, क्योकि अधिकाशत उनकी साधना सामूहिक रूप से ही विकसित होती है। ऐसी पारिवारिक सहिष्णुता का सुप्रभाव पूरे सामाजिक वायुमडल पर पडे बिना नही रहता। इस वायुमडल की प्रेरणा कई अर्धविकसित अथवा अविकसित परिवार भी ग्रहण करते हैं तथा धीरे—धीरे अपनी गरिमा का निर्माण करते है।

5. सामाजिक सहिष्णुता

समाज भी एक विशेष इकाई है। व्यक्तियो के सामूहिक

व्यवस्थित परिवेश को समाज की सज्ञा से अभिहित किया जाता है। केवल जन–समुदाय के एकत्रिकरण को समाज नही कहा जा सकता है। ऐसा समूह तो पशुओ का भी हो सकता है। इसलिए परस्पर निरपेक्ष समूह को समाज न कह कर "समझ" की सज्ञा दी गई है। क्योकि समाज मे परस्पर सापेक्ष दृष्टि से सभी के हित की व्यवस्था कर प्रावधान रहा हुआ है।

जिन व्यक्तियो के समूह से समाज की सरचना होती है, उन सभी का उसमे सामान्य हित सन्निहित होता है। उस हित की सुरक्षा हेतु सामाजिक आचार सहिता लिखित रूप मे निर्धारित होती है। अथवा सतत व्यवहार से एक जीवन्त स्वरूप ग्रहण कर लेती है। उसमे समाज के प्रत्येक सदस्य से समूचित अधिकारो एव तदनुरूप कर्तव्यो का बोध रहता है। वैसी सहिता का निर्माण सभी की विचार चर्चा के साथ विधिवत् रूप से होता है। उसमे बाद मे कोई भी परिवर्तन–परिवर्धन नही कर सकता और न ही आचार सहिता अथवा उसमे किये गये विधिवत् परिवर्तनो या परिवर्धनो की अवहेलना ही कर सकता है। जिस समाज मे इस प्रकार के सुव्यवस्थित विधिविधान के साथ आचार सहिता का अनुशरण होता हो, वहाँ यह समझा जा सकता है कि सभी सदस्यो के सामाजिक हित सुरक्षित हैं।

किसी भी समाज का सुव्यवस्थित रूप ही राष्ट्रीयता की भूमिका का निर्माण करता है। वैसे राष्ट्र एव समाज के प्रत्येक् सदस्य को पारस्परिक सहयोग से विश्वास एव शान्ति का अनुभव होता है। अत सामाजिक सहिष्णुता का विकास आवश्यक है एव सभी सदस्यो की सहिष्णुता के प्रति जागृति भी। समाज मे भिन्न–भिन्न प्रकृति के व्यक्ति भी सम्मिलित रहते है और व्यक्तिगत उत्कर्ष अथवा अपकर्ष के सन्दर्भ मे परिस्थितियो की भिन्नता भी रहती है, जिससे सामूहिक सद्भाव को बल देने की दृष्टि से सामाजिक सहिष्णुता आवश्यक है। जहाँ समूह होता है, वहाँ असहिष्णुता को बढावा मिलने के अनेक अवसर आते रहते है। अत जब तक अधिक सख्या मे व्यक्ति एव परिवार सहिष्णुत के धरातल पर खडे नही होते तब तक सामाजिक सहिष्णुता के

पल्लवित करने के लिये कठिन प्रयास करने पडते है। ऐसे वातावरण को सहृदयता पूर्वक बनाना होता है कि विभिन्न व्यक्ति अथवा परिवार ईर्ष्या, घृणा, अवनति अथवा ऐसी ही विभाजक वृत्तियो के शिकार न बने और उन्हे पूरे समाज की तरफ से सहिष्णुता पनपाने की प्रेरणा मिलती रहे। व्यक्तिगत वृत्तियो को सामाजिक रूप न दिया जाय, जिससे कि अव्यवस्था एव अराजकता व्याप्त न हो। इस दृष्टि से विशिष्ट समाज सरचना के आधार पर व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्र को उन्नतिशील बनाने के लिये सामाजिक सहिष्णुता को जीवन व्यवहार मे साकार रूप देना परमावश्यक है।

सामाजिक सहिष्णुता को प्रधानता देने वाले व्यक्ति कभी भी व्यक्तिगत स्वार्थवृत्ति मे नही उलझेगे। वे सदा सामाजिक हितो को ही प्राथमिकता देगे। व्यक्ति अपने अहित को सहन कर लेगा किन्तु सामाजिक अहित उसे असह्य होगा। ऐसे समाज मे समीक्षण ध्यान की साधना व्यापक एव गहन रूप से साधी जा सकेगी।

6. राष्ट्रीय सहिष्णुता

विश्व की दृष्टि से राष्ट्र भी एक इकाई ही है। अनेक सामाजिक सस्थाओ का इसमे समावेश होता है। इस इकाई के अधिकारो एव कर्त्तव्यो का विशिष्ट रूप होता है। राष्ट्रीय सुव्यवस्था एव हित की दृष्टि से तदनुरूप विधि–विधानो का प्रावधान भी रहता है। राष्ट्र मे व्यक्ति, परिवार तथा समाज के हितो की विवेक पूर्वक समन्वित व्यवस्था की जाती है। राष्ट्रीय विधि–विधानो का एकागीण स्वार्थों से परे व्यापक एव सबके लिये न्यायसगत होना आवश्यक है। ऐसे विधि–विधान निर्माताओ मे सर्वांगीण यथार्थ ज्ञान तटस्थ एव हार्दिक औदार्य होना चाहिये। इन आवश्यक गुणो का समन्वय समता के धरातल पर मनोवैज्ञानिक एव आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के साथ सभावित है। ये गुण आन्तरिक अनुभूति के ज्ञान के साथ ही अर्थात् आध्यात्म की मुख्यता के साथ ही प्राणवान बन सकते है। आध्यात्मिकता के साथ जुडे न होने पर भौतिक ज्ञान–विज्ञान निष्प्राण

से रहते है। वर्तमान मे परिलक्षित होने वाली राष्ट्रीय व्यवस्था भले ही विधि–विधान के धरातल पर समीचीन दृष्टिगत होती हो, किन्तु इन विधि–विधानो से राष्ट्र के प्रति जो सहिष्णुता उत्पन्न होनी चाहिये वह आज होती हुई नही दिखाई देती। राष्ट्रीयता के भले ही लुभावने नारे लगते हो, कल्याणकारी योजनाएँ बनती हो, तथाकथित कार्यसमितियो का निर्माण कर लिया जाता हो, नवीन कार्यप्रणालियॉ घोषित की गई हो अथवा गरीबी और महगाई को मिटा देने के भरपूर आश्वासन दिये जाते हो, लेकिन उस सच्ची राष्ट्रीय सहिष्णुता का अभाव–सा दिखाई देता है, जिसके प्रभाव से राष्ट्र के नागरिको मे परस्पर सहयोग एव सौहार्द्र का विकास होता है।

राष्ट्रीय सहिष्णुता के प्रश्न पर प्रत्येक भारतीय को गभीरता पूर्वक चितन करना चाहिये कि क्या इसके बिना राष्ट्र के अभीष्ट साध्य की सिद्धि हो सकेगी ? इस प्रकार चितन के क्षणो मे ये विदित हो सकेगा कि भारतवासियो के बाह्य धरातल पर ऊपर–ऊपर से ही सोचने का प्रयास किया है और दूसरो की नकल करने की ही अधिक चेष्टा की है, परन्तु भारतीय राष्ट्र की मौलिक–निधि एव विशिष्टता का, जो समतानुभूति मे निहित है, अनुसरण नहीं किया। यदि समतानुभूति का अनुसरण किया होता एव राष्ट्र–धर्म की अनुपालना की होती तो वर्तमान की शोचनीय स्थिति नही बनती तथा राष्ट्रीय चरित्र का इस सीमा तक अवमूल्यन न होता। नैतिकता का नारा तो अवश्य दिया जाता है लेकिन राष्ट्र धर्म को जीवन का अग मानकर तदनुकूल शिक्षण नही दिया जाता। नागरिको मे यह भावना उभरनी चाहिये कि राष्ट्रधर्म मेरे जीवन का आवश्यक अग है, जिसे मैं छोड नही सकता। मै राष्ट्रीय सहिष्णुता को धारण करूँगा तथा अन्य नागरिको की हित साधना के प्रति असहिष्णु नही बल्कि उसमे सहायक बनूँगा। जब नागरिको के जीवन मे राष्ट्रधर्म की ऐसी निष्ठा हो तभी राष्ट्रीय सहिष्णुता को प्रभावकारी सम्बल मिल सकता है। वैसी स्थिति मे सहिष्णु नागरिको का सम्मान होना चाहिये, जिसे देखकर असहिष्णु नागरिक भी अपनी असहिष्णुता को त्याग राष्ट्रीय

धारा मे एकजुट होने लगे। समीक्षण ध्यान की राष्ट्रीय धरातल पर साधना करने का यदि अभ्यास किया जाय तो राष्ट्रीय सहिष्णुता अधिकाधिक पुष्ट एव कल्याणकारी स्वरूप ग्रहण करने लगेगी।

7. पडौस की सहिष्णुता

ससार के प्रत्येक मानव को दूसरो के सहयोग की अनिवार्य अपेक्षा रहती है। साधनावस्था को अगीकार करके चलने वाले महात्मा भी सामाजिक वायुमडल की अवस्था से सर्वथा विलग नही रह सकते तो फिर गार्हस्थिक अवस्था मे रहने वाले मानव का तो कहना ही क्या ? एक मानव जब ससार मे रहता हुआ भलिभाति अपना जीवन–यापन करना चाहता है, तब जहॉ भी वह रहता है उसका पास–पडौस मे रहने वाले अन्य मानवो से सम्पर्क होता है। इस सम्पर्क के बाद सयोग का सिलसिला भी जुडता है तथा पडौसियो के मध्य प्रेममय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह सम्बन्ध पारस्परिक सहकार पर आधारित रहता है। सद्भावना पूर्वक सहकार उभय पक्ष के लिये हितावह होता है।

जैसे एक व्यक्ति का पडौसी दूसरा व्यक्ति होता है उसी प्रकार एक परिवार का पडौसी दूसरा परिवार होता है। पडौसी का अर्थ है प्रतिवेश्मी– पास मे रहने वाला। इसी रूप मे समाज भी पडौसी होते हैं और राष्ट्र भी एक दूसरे के पडौसी होते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति व्यक्ति के बीच सद्भावनापूर्वक सहकार की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार का सहकार पडौसी परिवारो, समाजो तथा राष्ट्रो के बीच भी होना चाहिये। यदि कहीं भी पडौसी की सहिष्णुता का अभाव होता है तो व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक का जीवन विश्वस्त एव शातिदायक नहीं हो सकता। एक दूसरे के अस्तित्व को समानता के साथ स्वीकार करने के पश्चात् ही सद्भावना की अभिवृद्धि होती है। पडौसियो मे अगर समानता का अनुभाव न रहे तथा ऊँच–नीच या वैर–विरोध की भावना विद्यमान हो तो वहॉ सद्भावना एव सहिष्णुता का प्रसार सभव नही वनता। वैसी वृत्तियो से पडौसियो के वीच दुर्भावना ही जन्म लेती

है, जो उभय पक्ष को असहिष्णु बनाकर उन्हे शत्रु की भूमिका पर खडा कर देती है। परिणामस्वरूप उन पडौसियो का वर्तमान जीवन अशातिमय, एक दूसरे से भयाक्रात, तुच्छ स्पर्धाओ से ग्रस्त एव दूसरे को नीचा दिखाने की जघन्य भावना से परिव्याप्त हो जाता है। वे अपने सर्वोच्च लक्ष्य को विस्मृत कर देते है। साथ ही भावी प्रजा का भविष्य भी बिगाड देते हैं। ऐसी अवस्था मे व्यक्ति की क्षति से अधिक क्षति परिवार की और उससे अधिक क्षति समाज की होती है। परन्तु पडौसी राष्ट्र जब सघर्षशील बनते है तब हर प्रकार से बहुत बडी क्षति होती है। यह क्षति असहिष्णुता से उत्पन्न होती है, जिसे क्रोध उत्पन्न करता है।

क्रोध का समीक्षण विधिवत् तभी हो सकता है जब क्रोध के स्वरूप तथा उसके दुष्परिणामो का समीचीन ज्ञान प्राप्त किया जाय। इसे जाने बिना तुच्छ से तुच्छ बातो पर भी क्रोध भडक उठता है एव असहिष्णुतामय कटुता का वातावरण बना देता है। परिणाम यह निकलता है कि मानसिक नियत्रण डगमगा जाता है , जिसके कारण स्व–पर के हिताहित का भान नही रहता।

इस दृष्टि से पडौसी की सहिष्णुता का विकास व्यक्ति के स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक अति आवश्यक है। सहिष्णुता का विकास होने पर पारस्परिक सहयोग का सम्बन्ध भी अधिक प्रेममय एव मधुर बन सकेगा। समीक्षण दृष्टि एव समता के प्रसार कि लिये वैसा वातावरण बहुत ही उपयुक्त रहेगा।

8. नैतिक सहिष्णुता

जो व्यवहार मानव को अपने जीवन के परमोच्च लक्ष्य की ओर अग्रसर करे वह नीति है। सामाजिक दृष्टि से जिस आचरण से परस्पर का सद्व्यवहार सधता हो, एक दूसरे का एक दूसरे के प्रति विश्वास बराबर निभता हो, कल्याणकारी सामाजिक विधानो की निष्ठा पूर्वक अनुपालना होती हो वह व्यवहार, नैतिकता कहलाती है। इस नैतिकता मे यदि भ्रातिवश अथवा किसी व्यक्ति के कदाचार के कारण

विश्रृखलता आती हो, उस समय मे सहिष्णुता की अवश्यकता होती है, जिससे सद्भावना के साथ उस विश्रृखल वृत्ति का उपशमन किया जा सके। सहिष्णुता के अभाव मे पारस्परिक व्यवहार अवरुद्ध हो सकता है और कटुता की भावना भी फैल सकती है। इस कारण केवल ऊपरी व्यवहार को ही नैतिकता का आधार स्तभ न मान कर उसमे आत्मीयता तथा आध्यात्मिक भावो का पुट दिया जाना चाहिये।

जो व्यक्ति आत्मीयता के साथ नैतिकता का मूल्याकन करता है, वह पारस्परिक व्यवहार को ही मात्र कसौटी न मानकर आन्तरिक अनुभूति को सबसे बडी कसौटी मानता है। आत्मानुभूति के साथ वह सोचता है कि मै जो कुछ भी अन्य के साथ सद्व्यवहार कर रहा हूँ, वह मेरी आत्मशुद्धि के लिये पहले है। इस निमित्त से मैं अपने कर्मों का विमोचन कर रहा हूँ। अत इस सद्व्यवहार के द्वारा मै अन्य का कोई उपकार नही कर रहा हूँ। इसके निमित्त से मुझे स्वर्णावसर मिला है कि मै पारस्परिक सहयोग से स्व–पर विकास साधूँ तथा अपनी सहिष्णुता मे वृद्धि करूँ। अतएव मेरा कर्त्तव्य बनता है कि जो सत्कार्य मैं करूँ और जिसके लिये करूँ वह सर्वप्रथम मेरा ही हितकार्य है। मैं यह क्यो सोचूँ कि दूसरा मेरे प्रति सद्व्यवहार नहीं करता तो मै उसके प्रति सद्व्यवहार क्यो करूँ ? मुझे अपने किये उपकार का प्रत्युपकार भी नही चाहिये। ऐसा सोचने और करने वाला व्यक्ति यथार्थ मे नैतिक कहलायेगा। ससार मे इस प्रकार की नैतिकता का प्रसार हो तो ही सभी क्षेत्रो मे सर्वहितकारी व्यवस्था स्थापित हो सकती है। 'आज की जो प्रचलित नैतिकता है वह एक दृष्टि से सच्ची नैतिकता नही कही जा सकती, क्योकि उसमे व्यक्तिगत स्वार्थ के कई हेतु समाये हुए रहते है। उन हेतुओ की सपूर्ति तक तो सद्व्यवहार चलता है लेकिन बाद मे व्यवहार पलट जाता है। यदि स्वार्थपूर्ति मे विघ्न उत्पन्न हो जाए तो वही दिखावटी सद्व्यवहार असद्व्यवहार मे परिवर्तित हो जाता है। नैतिक सहिष्णुता और सद्व्यवहार वास्तविक वही कहलायेगा जो भले एक ओर से ही हो फिर भी टूटे नही। नैतिकता का धनी यह अपेक्षा नही रखता कि

सामने वाला भी ऐसा ही व्यवहार करे। उसका सद्व्यवहार अपनी आत्मानुभूति पर आधारित होता है, सामने वाले के व्यवहार पर नही। सामने वाले के सद्व्यवहार को भी वह समभाव से सहन करता है तथा अपने सद्व्यवहार को न छोडने की आत्मीय निष्ठा को परिपुष्ट बनाता है। नैतिक सहिष्णुता इस प्रकार वसुधैव कुटुम्बकम तक पहुँचाने वाली एक महत्त्वपूर्ण साधना बन सकती है।

9. साम्प्रदायिक सहिष्णुता

सम्प्रदाय शब्द की व्युत्पत्ति होती है– सम्यक्–प्रदाय। प्रदाय या प्रदान कई प्रकार का हो सकता है, परन्तु यहॉ प्रदान का तात्पर्य विचार एव सद्भावना के रूप मे है। सम्यक् अर्थात् सत्य विचारो का, एक दूसरे को आदान–प्रदान करना। यह आदान–प्रदान भी सम्यक् भाव की साधना के लिये होना चाहये। जब मानव विषमता की भट्टी मे झुलसता है, तब वह अपनी उस जलन से बचने का मार्ग ढूॅढता है। वह उस समय यदि समता की पराकाष्ठा को पाने वाले विशिष्ट साधक का सयोग पा जाता है तब वह विषमता की समाप्ति तथा समता की प्राप्ति के लिये अपनी जिज्ञासा व्यक्त करता है। वीतराग विधि से जब उसे समतामय उपदेश सुनने को मिलता है तो वह उसे ग्रहण करने की अभिलाषा बनाता है। वीतराग विधि को समग्र रूप से कोई विशिष्ट पुरुष ही ग्रहण कर पाते हैं। जन–साधारण की समझ उतनी गूढ नही होती कि जिससे वे इस विधि को त्वरित गति से ग्रहण कर सके। कदाचित् कुछ व्यक्ति ग्रहण करने वाले भी सामने आते है परन्तु समग्र विधि को एक साथ ग्रहण नहीं कर पाते हैं। कुछ विषय कुछ व्यक्ति ग्रहण करते है तो कुछ विषय कुछ अन्य व्यक्ति ग्रहण करते हैं। परिणाम स्वरूप दोनो वर्गों के व्यक्ति अधूरे ही रहते हैं। अत ऐसे जिज्ञासु अलग–अलग न रहकर एकसाथ अवस्थान कर लेते हैं एव परस्पर सम्यक् विचार विनिमय द्वारा उस अवस्था को जीवन मे ढालने की कोशिश करते हैं। ऐसी जिज्ञासा वाले अन्य व्यक्ति भी उसमे सम्मिलित होकर समता के आधार पर व समन्वय के आधार पर राग–द्वेष को जीत लेने का प्रयास करते है। मगर सत्य

का स्वरूप अतिशय विराट् है, अत पूरी तरह वह जब पकड मे नही आता तो सभी का दृष्टिकोण आशिक बन जाता है। कभी किसी विषय मे मतभेद या उलझन पैदा हो सकती है। वैसे तो महिला वर्ग, पुरुष वर्ग की अपेक्षा राग-द्वेष से विमुक्त होने के लिये समता की साधना मे भाग लेने का अधिक इच्छुक होता है। किन्तु उसमे भी आशिक ज्ञान के कारण उलझनो का पैदा हो जाना स्वाभाविक है। उभय वर्गो की ऐसी उलझनो को समाहित करने की आवश्यकता रहती है, लेकिन वह समाधान समान स्तर के साधको से होना शक्य नही होता। ऐसा समाधान ही समाहिति के लिये उन सभी साधको को अपेक्षा रहती है कि कोई विशिष्टि साधक अपनी सत्सगति प्रदान करे, जो परिपूर्णता की परिधि को पा चुका हो। ऐसा महत्त्वपूर्ण स्वरूप होता है परम वीतराग अवस्था को प्राप्त करने वाले सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी भगवान का। जो अपने आप मे तो कृतकृत्य हो चुके होते है किन्तु अन्य भव्य जनो के हित के लिये भी करुणा के सागर बनकर वीतरागता पूर्वक समता के सर्वोच्च स्वरूप को प्राप्त करने का भव्योपदेश देते है। उनका उपदेश सामूहिक रूम से सार्वजनिक कल्याणार्थ होता है। अत उनके उपदेश की मुमुक्षु जन अपनी योग्यता के अनुसार यथाशक्ति जीवन मे उतारने हेतु प्रयत्नशील बने एव आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त बनाते हुए ऊर्ध्वमुखी स्वरूप के अनुगामी बने। एतदर्थ तीर्थंकर देव चार तीर्थ की स्थापना करते है, जिससे चतुर्विध सघ की निर्मिति बनती है। ऐसे सघ के साधको मे गुण कर्मानुसार वर्ग का स्वरूप भी सामने आता है। वह वर्ग चार विभागो मे विभक्त रहता है यथा- साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका। साधु एव साध्वी ये दोनो वर्ग यथाशक्ति आत्मसाधना मे तन्मय होने के लिये पाच महाव्रतादि नियमो को साकार रूप देकर चलते है। ऐसी क्षमता गृहस्थाश्रम का स्वरूप लेकर चलने वाले साधको मे नही होती। अतएव वे आशिक अहिसादि व्रतो को स्वीकार करके चलते है। उनमे जिनका भी प्रवेश होता है उन सभी के दो वर्ग बनते हैं- श्रावक वर्ग और श्राविका वर्ग। इस प्रकार जिस चतुर्विध सघ की सरचना तीर्थंकर देव करते हे, वही चतुर्विध सघ कहलाता है। उस सघ के नायक तीर्थंकर देवो के द्वारा दिये गये उपदेश को

हृदयगम करने के लिये परस्पर के विचारो का सम्यक् प्रकार से आदान–प्रदान करते है। उन साधको मे परस्पर के आदान–प्रदान करने पर भी सम्यक्रीत्या समाधान नही बन पाता तो वे अनाग्रही बनकर तीर्थंकर देव के समीप पहुँचते हैं और तीर्थंकर देव जो समाधान देते हैं उनको वे सभी साधक सहर्ष स्वीकार करते है। तीर्थंकर देव की अनुपस्थिति मे तीर्थंकर देव के उत्तराधिकार को लेकर चलने वाले सघ नायक (तृतीय पद, आचार्य देव) के पास पहुचते है और वहॉ उनका समाधान हो जाता है। क्योकि उन सभी साधको का वह वरिष्ट पद है और चतुर्विध सघ का उस वरिष्ट पद मे अनन्य विश्वास होता है। साथ ही तीर्थंकर देवो की अविद्यमानता की पूर्ति भी हो जाती है। अतएव जहॉ भी सघ है वहॉ पर सघपति अनिवार्य रूप से होते है। यह सघ भी एक प्रकार से व्युत्पत्यर्थक "सम्प्रदाय" का द्योतन करने वाला है। इस सघ व्यवस्था मे रहता हुआ साधक आत्मकल्याण करने मे सफलता प्राप्त करता है। इस प्रकार की व्यवस्था के अभाव मे साधको की स्थिति चितनीय बन जाती है और वे स्वय, स्वय की मति से कार्य करते हुए इतने आग्रहशील हो जाते है कि जिससे कषाय की अभिवृद्धि के साथ–साथ ससार की भी अभिवृद्धि कर बैठते है। ऐसे साधको का कदाचित् कोई समूह हो भी सही तो वह सम्प्रदायवाद की सज्ञा पाता है। व्युत्पत्तिपरक अर्थ से वह समन्वित नही होता है। अतएव सम्प्रदाय शब्द के व्युत्यर्थ से सम्बन्धित सघ (सम्प्रदाय) ही आत्मशुद्धि मे सहायक होता है। ऐसे सघ मे केवल आध्यात्मिक लक्षण की प्राप्ति हेतु सद्विचारो का आदान–प्रदान अहिसादि नियमो की स्वच्छ परिधि मे किया जा सकता है। स्वच्छ परिधि के अभाव मे वह सम्भव नही होता है। इसे एक उदाहरण से समझे। दस हजार पॉवर के प्रकाश को प्रकट करना है तो उसके अनुरूप ही स्वच्छ काच आदि के बल्ब की जरूरत होगी। यदि आवश्यक स्वच्छ काच आदि का प्रयोग न किया जाय और उसकी उपयुक्त परिधि नहीं बनाई जाय तो विद्युत का कितना ही पॉवर क्यो न हो उसका वाछित लाभ उठाया नहीं ज सकेगा। बल्ब की परिधि जब तक पूर्ण स्वच्छ नहीं होगी, उतन

प्रकाश प्रकट नही किया जा सकेगा। अतएव अहिसादि की पवित्र मर्यादा मे रहते हुए जिस समूह का स्व–पर कल्याण हेतु समता प्रधान अनुसधान चलता हो वह सम्प्रदाय विश्व के कल्याण हेतु नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार के सर्वप्राणभूत हितकारी सम्प्रदाय मे पारस्परिक सहिष्णुता का भी पर्याप्त सामर्थ्य विकसित हो जाता है। काई व्यक्ति कितना भी असहिष्णु बनकर और उत्तेजना प्रकट करके वैसे स्वच्छ सम्प्रदाय पर प्रहार करे और प्रतिशोध की आग भडकाना चाहे, लेकिन उस आवेशपूर्ण स्थिति मे भी वह स्वच्छ सम्प्रदाय पूर्णतया सहिष्णु बना देता है। तथा अपनी सहिष्णुता से उस व्यक्ति मे भी सहिष्णुता जगाने का उपक्रम करता रहता है। उस सम्प्रदाय के साधक असहिष्णुता के प्रति भी सहिष्णुता का ही परिचय देते है।

क्षमा, मैत्री, प्रमोद एव माध्यस्थ भावो को वह सम्प्रदाय सर्वोच्च स्थान देता है, जिसके आधार पर साम्प्रदायिक सहिष्णुता इतनी सक्षम हो जाती है कि वह अपने व्यवहार से घोर असहिष्णुताओ को भी सहिष्णु बना सकती है ऐसे लोक कल्याणकारी सम्प्रदाय से उन समूहो को अलग रखना होगा जो अर्थ दृष्टि की प्रधानता से सत्ता एव सम्पत्ति की लालसा से अथवा मानव जाति को अखण्डित करने वाले अधूरे मत–पथ की धुन से स्थापित किये जाते हैं। ऐसे सगठन अपने ही कपोल कल्पित सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हैं, जिनमे मानव या प्राणीहित का लक्ष्य न होकर व्यक्तिगत वर्चस्व को ऊपर उठाने की लालसा होती है। सत्ता से सम्बन्धित जो ऐसे सगठन होते है वे चाहते है कि राजसत्ता उन्ही के हाथो मे रहे। वे अन्य को सत्ता मे सहन नही कर सकते। अर्थ दृष्टि की प्रधानता वाले ऐसे सगठन भी आर्थिक स्रोतो को अपने ही अधिकार मे थामे रखना चाहते हैं और उनसे प्राप्त लाभो को भी इसी प्रकार केन्द्रीकृत बनाना चाहते है। इसी प्रकार के लिप्सु सगठन अत्यन्त असहिष्णु होते हैं और ईट का जवाब पत्थर से देना चाहते है। ये हिसा, शस्त्र, विग्रह और युद्ध के उपायो मे विश्वास रखते हैं तथा अपनी शक्ति के प्रदर्शन से साधारण लोगो को भयभीत

करते रहते हैं। ये समूह राग–द्वेष एव विषमता के गहरे रग से स्वय रगे हुए होते हैं और सारे वातावरण को वैसा ही रूप देने की चेष्टा मे लगे रहते हैं। इनकी सक्रियता की परिधियॉ कलुषित एव कलकित आवरणो से युक्त होती है। ऐसे घेरो मे स्वच्छ प्रकाश का तो अभाव रहता ही है, इसका कारण यही है कि इन सगठनो मे असत् एव हिसाकारी भौतिक सत्ता तथा सम्पत्ति सम्बन्धी ललक ही होती है एव उनको प्राप्त करने के लिये असद् आचार–विचार की प्रधानता रहती है। सम्प्रदाय शब्द का शुद्ध अर्थ तो उसे छू भी नही पाता है। फिर भी आज ऐसे सगठन सप्रदाय के नाम से पुकारे जाते है, जिनका रूप असहिष्णुता के साथ बाहर प्रकट होता है। ऐसी तथाकथित साम्प्रदायिकता के माध्यम से हिसा, अराजकता एव अव्यवस्था आदि का ताडव जन–मानस के सामने आता है। ऐसी घृणा प्रसारिणी साम्प्रआयिकता की मनोवृत्ति का सुज्ञ पुरुष निषेध करते हैं और उससे बचकर चलने का परामर्श देते हैं। वस्तुत ऐसी साम्प्रदायिक सहिष्णुता समाज, राष्ट्र तथा विश्व के लिये अहितकर, अकल्याणकर एव हेय होती है।

इस रूप मे स्वच्छ सम्प्रदाय तथा सम्प्रदाय के नाम को बदनाम करने वाले सत्ता व सम्पत्ति लिप्सु सगठनो के बीच रहे भेद को गभीरता से समझ लेने की आवश्यकता है। सम्प्रदाय शब्द की व्युत्पत्ति के साथ जो वास्तविक व्याख्या की गई है, उसकी गूढता को भी भलीभाति समझ लेने की आवश्यकता है। वास्तविक सम्प्रदाय का मूलाधार अहिसा, अपरिग्रह एव समता पर टिका हुआ माना गया है, जो प्रत्येक मानव को शाति एव कल्याण का मार्ग दिखाता है। ऐसा स्वच्छ सम्प्रदाय जाति, व्यक्ति, पार्टी आदि अथवा भौतिक सत्ता या सम्पत्ति के आधार को कोई महत्त्व नही देता। वह तो चेतन्यमय जागृति तथा कर्तव्य परायणता की अभिवृद्धि करते रहने मे लगा रहता है।

वस्तुत सम्प्रदाय नाम से बोधित होने वाले साधको का सगठन प्राणी मात्र के साथ आत्मीयता के व्यवहार का सदेश देता है। समता की साधना को व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व तक प्रसारित करता है एव स्व–पर कल्याण की भावना को प्रगाढ बनाता

हुआ सर्वोच्च परमात्मा पद को प्राप्त कराने वाले को पथ पर अग्रसर बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। ऐसे ही सगठन के सम्बल से परमात्मा पद को प्राप्त करने का सामर्थ्य भी अभिवृद्ध होता है। भव्य और कल्याणकरी सहिष्णुता जिस साधक के आत्मस्वरूप मे पल्लवित और पुष्पित–फलित होती है, वह साधक समता लोक मे अन्तश्चेतना का साक्षात्कार करता हुआ एक न एक दिन उच्चतम परमात्म–पद का अधिकारी बन जाता है।

अत साम्प्रदायिक सहिष्णुता के विज्ञान को हस–चचु के समान मानना चाहिये, जो अपने विवेक–विकास से दूध और पानी को ही अलग नही करती बल्कि दूध–दूध के भेद को भी स्पष्ट कर देती है। दूध–दूध मे कितना ही भेद होता है। एक माता का दूध होता है, तो गाय का दूध भी होता है। साथ ही भैस, बकरी आदि का दूध भी होता है। सिहनी का दूध भी दूध ही कहलाता है तथा आकडे, धतूरे का दूध भी सफेद ही होता है और दूध के नाम से ही अभिहित होता है। लेकिन क्या सभी दूध एक–से होते हैं ? दूध को मात्र नाम से ही नही बल्कि विवेकशील पूरुष गुणो से पहचानते हैं। वे हेय, ज्ञेय और उपादेय की दृष्टि से विश्लेषण तथा यथायोग्य ग्रहण बुद्धि का परिचय देते है। इसी प्रकार साम्प्रदायि क सरचना के सम्बन्ध मे भी बुद्धिमान पुरुषो को स्वय की विवेक प्रज्ञा का उपयोग करना चाहिये तथा तुलनात्मक रीति से यथार्थ स्वरूप को पहचान लेना चाहिये। वैसी स्थिति मे सहिष्णुता की कसौटी पर सूर्यालोक के सदृश्य सत्य वस्तुस्थिति का स्पष्ट ज्ञान हो जायेगा।

10. आध्यात्मिक सहिष्णुता

आध्यात्मिक साधना एक महत्त्वपूर्ण साधना होती है। इस साधना के साथ सबधित साधक को आध्यात्मिक सहिष्णुता का सामर्थ्य अर्जित करना ही चाहिए। इसके बिना आध्यात्मिक क्षेत्र मे गतिशीलता सभव नही होती है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे जीवन का प्रवेश ही अति दुरुह माना गया है। क्योकि आत्म–स्वरूप की गहन परतो का उद्घाटन करने मे

सक्षम होना उसके लिए अनिवार्य शर्त है। इस क्षेत्र मे तो गहरे से गहरे उतरते रहने की आवश्यकता होती है। उस अवस्था का साक्षात्कार उसी स्तर की गहनता मे डुबकी लगाने पर शक्य होता है। किन्तु अत्यत गहन विषय का बाह्य स्वरूप भी होता है। जैसे जमीन मे फैली हुई किसी वृक्ष की जडे बाहर नहीं दिखाई देतीं लेकिन शाखा–प्रशाखाओ और फूलो, पत्तो व फलो द्वारा उस वृक्ष का बाह्य स्वरूप दिखता ही है। उस वृक्ष की जडो का साक्षात्कार करने के लिए उसके बाहरी स्वरूप को ही सम्मुख रखकर अन्वेषण प्रारभ किया जाता है। इसे शास्त्रानुसार अनुमान प्रमाण कहते है। अगर जडे न होती तो फूल, पत्ते व फल भी नहीं होते। यदि वृक्ष की पत्तियाँ शुष्क हो अथवा रोग–ग्रस्त हो तो उन पत्तियो की प्रकृति के आधार पर वृक्ष के अदृश्य भाग की प्रकृति का अनुमान लगाया जा सकता है। उन शुष्क एव रोग ग्रस्त पत्तियो को देखकर अन्वेषणकर्ता खिन्न नही होता अपितु चितन करता है कि एक ही वृक्ष पर दो किस्म की पत्तियाँ क्यो है ? एक किस्म की पत्तियो पर तो हरियाली की आभा है किन्तु दूसरी किस्म की पत्तियो पर शुष्कता की रुक्षता है। इसका क्या कारण है ? दोनो मे अतर होने के हेतु अलग–अलग होते हैं। यदि सूर्य की प्रखर किरणो से या शीत भरी हवाओ से पत्तियो के सूखने का प्रसग आता है तो वृक्ष की सभी पत्तियाँ सूखती है। परन्तु यह बाह्य निमित्त शुष्कता का कारण तब तक नहीं बन सकता, जब तक कि अतरग हेतु यथार्थ रूप मे रहे। अतरग हेतु यथार्थ रूप मे रहे तो सूर्य की प्रखर किरणे अथवा शीत भरी हवाएँ पत्तियो को सुखा नहीं सकती। जडो की ताकत से वे हरी भरी रहती है।

अन्वेषक साधक इस प्रकार के वृक्ष–विशेषो का जब अन्वेषण प्रारभ करता है तब वह दृश्य–भाग को माध्यम बनाकर ही आगे बढता है। यह उस साधक की सहिष्णुता अथवा असहिष्णुता होती है कि शुष्क के विषय पर चितन करता हुआ कितनी गहराई तक पहुँच पाता है। इसे आध्यात्मिक सहिष्णुता कहेगे कि वह शुष्क से विषयो पर चितन करते हुए खिन्न अथवा असहिष्णु नहीं बनता हे तथा चितन की

गहराइयो मे उत्साहपूर्वक गति करता हुआ चला जाता है। वही साधक आगे के अन्वेषण मे भी सफलता प्राप्त करता है।

मानव जीवन को भी एक प्रकार से वृक्ष की उपमा दी जा सकती है। इस जीवन की कई महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ बताई गई है। समग्र विश्व मे आत्माएँ निज कर्मानुसार विभिन्न शरीर–पर्यायो को धारण करती है। उन सभी शरीर पर्यायो मे मानव शरीर को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। जन–साधारण की दृष्टि मे देव–शरीर का विशेष मूल्य माना जाता है, जो भौतिक समृद्धि तथा वैभव आदि की दृष्टि से वास्तव मे बढा–चढा हुआ होता है। लेकिन जो आत्मिक प्रगति मानव शरीर के माध्यम से साधी जा सकती है, वह देव शरीर से नहीं। मनुष्य शरीर पर्याय मे रहती हुई आत्मा ही सर्वोच्च साधना से सम्पन्न बन सकती है। भौतिक साधना की अपेक्षा आतरिक अर्थात् आध्यात्मिक साधना ही सभी साधनाओ मे श्रेष्ठतम होती है। अत आध्यात्मिक साधना ही सर्वाधिक महत्वशाली है।

आध्यात्मिक साधना के परिपूर्ण रूप से सध जाने पर अन्य सभी प्रकार की साधनाएँ स्वत ही सिद्ध हो जाती है। अवशेष कुछ भी नही रहता। इसीलिए कहा गया है– "एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाए।" महावीर प्रभु ने भी उद्घोषित किया है कि–

जे एग जाणइ, से सव्व जाणइ।
जे सव्व जाणई, से एग जाणइ।।

अर्थात् जो एक स्वरूप को सर्वाङ्गीण एव पूर्ण रूप से जानता है, वह समग्र स्वरूपो को सर्वागीण एव पूर्ण रूप से जानता है तथा जो समग्र स्वरूपो को सर्वांगीण एव पूर्ण रूप से जानता है, वही एक स्वरूप को सर्वांगीण एव पूर्ण रूप से जानता है।

यहाँ जिस एक स्वरूप का सकेत किया गया है, वह स्वरूप अथवा तत्त्व आत्मा हे। जो इस आत्म–स्वरूप को सर्वांगीण एव पूर्ण रूप से जान लेता है तथा उसका साक्षात्कार कर लेता है, वह समग्र जड–चेतन, रूपी–अरूपी तत्त्व–स्वरूपो का विज्ञाता हो जाता है।

ज्ञान का माध्यम आत्म–तत्व ही है। अन्य तत्त्व सवेदनशील न होने के कारण जड हैं। अत अन्य का विज्ञाता रूप से माध्यम नही बन सकते हैं। आत्मा भी मानव–शरीर पर्याय मे रहती हुई योग्य विकास साध लेने के बाद ही स्वसवित्ति से समग्र विश्व का विज्ञान करने की क्षमता वाली बन सकती है। पहले वह निज की सवेदनशीलता को समझती है और फिर उसके आधार पर सम्यक् निर्णायक शक्ति से सम्पन्न बनती है। इतना विकास साध लेने पर ही वह आगे की गति–प्रगति को साधने मे समर्थ बनती है। स्व–सम्यक् निर्णायक शक्ति समता की भूमिका पर, सहिष्णुता की सीढियॉ चढ कर ही सम्पादित की जा सकती है। जैसा कि ऊपर मानव जीवन को वृक्ष की उपमा से उपमित किया गया है, उस उपमिति की दृष्टि से मानव पर्याय के अतरतम मे सत्ता रूप से समग्र स्वरूप को जानने की एव देखने की योग्यता शक्ति रूप मे विद्यमान है किन्तु आवृत बनी हुई है। उस योग्यता को अनावृत करने के लिए प्रारभिक अन्वेषण सामान्य जनो द्वारा अनुभूत दृश्यो से आरभ किया जाता है। आतरिक प्रतरो के बीच मे होकर आने वाली आतरिक ऊर्जा सामान्य जन के समक्ष विकृत रूप मे प्रकट होती है। उस विकृत रूप के दृश्यो को देह प्रकम्पन, टेढी भौंहो, लाल नेत्र, फडफडाते हुए होठ और कटकटाती दत पक्ति के द्वारा वीभत्स एव उत्तेजित करने वाली प्रवृत्ति के साथ जब प्रकट किया जाता है, तभी सामान्य जन उस प्रवृत्ति को क्रोध के रूप मे पहिचान पाते है। बाह्य रूप से प्रकट होने वाली इस क्रोधावस्था को शुष्क एव रोगस्त पत्तियो के समान समझे जिन्हे देखकर आतरिक विकृत रूप के दृश्यो का अन्वेषण किया जाता है। जब अनुकूल अप्रशस्त राग के रूप मे मुखाकृति की वृत्तियॉ अनुभूत होने लगती हैं तो वे हरी–भरी पत्तियो के समान दिखाई देती है। इस प्रकार की दृश्यावस्थाओ से ही साधक अपनी अतर्यात्रा का अन्वेषण प्रारभ करता हुआ आतरिक स्वरूप मे या यो कहे कि आध्यात्मिकता मे प्रवेश करने का प्रयत्न करता है।

इसी सत्य का उदबोधन महावीर प्रभु ने आचाराग सूत्र मे दिया है और बतलाया है कि "जे कोहदसी, से माणदसी"– जो साधक

क्रोध को देखता है, वह मान को देखता है। इस कथन मे क्रोध को देखने का क्या अभिप्राय है ? कैसे देखता है क्रोध को देखने वाला मान को ? इसका कुछ भी स्पष्टीकरण उपलब्ध साहित्य मे दृष्टिगत नही हो पा रहा है। पूर्व के सुज्ञ पुरुषो ने इन सूत्रो के रहस्य को क्यो अभिव्यक्त नही किया, यह तो वे महानुभाव ही जाने, किन्तु वीतराग देवो ने जो इस सूत्र का सकेत दिया है, वह ज्ञान–विज्ञान के अनेक रहस्यो से परिपूर्ण लगता है। इन्हे अनन्तगम वाले सूत्र भी कह सकते है। किन्तु उस अनतगम का जब तक अवबोध नही होगा, तब तक वीतराग देव के इनसे सबधित अमूल्य उपदेश का समीचीन लाभ नही उठाया जा सकेगा। उन गमो को बाह्य परिवेश मे अथवा भौतिक दृश्यो की स्थिति से पूरी तरह नही समझा जा सकेगा। उनका अवबोध करने के लिए अहिसादि आतरिक अनुसधानो के साथ समतानुभूति के आधार पर समझने का प्रयास किया जाए तो यथा विकास यथा योग्य अवस्थान से साधक समझ सकता है एव अतर्पथ पर चल पडने की क्षमता भी अर्जित कर सकता है।

इसी सदर्भ मे यहॉ यत्किचित् रूप मे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस प्रयत्न मे वीतराग देव के आशयानुरूप अभिव्यक्त यदि सुज्ञो को प्रतीत हो तो वे इसको ग्राह्य मानकर अतर्पथ पर गति करने का उपक्रम करे।

क्रोध दर्शिता का अनुसंधान

आचाराग सूत्र मे प्रभु महावीर ने जो यह फरमाया है कि– "जे कोहदसी, से माणदसी" आदि, इसके सारगर्भित अर्थ को अतरानुभूति के गभीर क्षणो मे ही समझा जा सकता है। बाह्य पदार्थो के समान क्रोध को इन चर्म चक्षुओ से देख पाना सभव नही है, परन्तु क्रोध कर्मवर्गणा के अतर्गत पौद्गलिक स्कध स्वरूप ही होता है। वह जब सत्ता अवस्था मे रहता है, तब उसको अनुसधान होना अति ही कठिन होता हे, किन्तु जब क्रोध उदयावस्था को प्राप्त होता है उस समय उसकी परिणति रूप को धारण कर लेती हे, अर्थात् उसके लक्षण स्थूल

रूप मे प्रकट हो जाते है। जिनके आधार पर उसे समझ लेना कठिन नहीं रहता। उस समय मन, वचन, काया की परिणति उस वर्गणा से प्रभावित होकर प्रवृत होती है। वह प्रवृत्ति जब शरीर के बाह्य भाग मे झलकने लगती है, तब अन्य व्यक्ति उसकी आकृति के क्रोध की अवस्था को अनुमान से समझ जाते हैं। वे उसे आतरिक अवलोकन से नही समझते हैं। अनुमान से उन्हे जो जानकारी उपलब्ध होती है, उस जानकारी को नीरस व शुष्क पत्तो की तरह देखते हुए वे उसके मूल को अन्वेषित करने के लिए प्रवृत्त होते है। कुछ क्षणो पूर्व उस पुरुष की आकृति हरी--भरी पत्तियो के समान मनोहर दिखाई दे रही थी, वही कुछ क्षणो के पश्चात् शुष्क पत्तियो की तरह रुक्ष क्यो हो गई ? यह किस हेतु का परिणाम था ?

क्रोध के प्रकटित बाह्य रूप को देखकर अनुसधानकर्ता क्रोध रूपी वृक्ष की अतरग जडो को खोजने के कार्य मे आगे बढते है। भीतर मे दोनो अवस्थाओ का मूल एक ही मालूम होता है, पर दोनो की परिणति मे अतर दिखाई देता है। अभीष्ट पर--पदार्थ को आत्मीय भावना से प्राप्त करने पर हरियाली रूप प्रसन्नता अभिव्यक्त हो रही थी। कुछ समय पश्चात् उसी प्राप्त अभीष्ट पर पदार्थ के अपहरण अथवा विनष्ट होने का प्रसग उपस्थित हो गया तब उस अनभीष्ट अवस्था को समाप्त करने के लिए मूल से ही अग्नि--शस्त्र के समान जो परिणति अभिव्यक्त हुई, वही शुष्क पत्तियो के तरह की आकृति बनाने वाली सिद्ध हुई। अतएव इन दोनो का जो मूल है, वह क्रोध रूपी कर्म स्कध के रूप मे है। उस स्कध को देखने के लिए उसके अनुरूप उसी धरातल पर प्रवेश पाने वाली दृष्टि की उपलब्धि अति आवश्यक है।

भौतिक वैज्ञानिक युग मे आपेक्षिक सूक्ष्म को देखने के लिए उसके अनुरूप सूक्ष्म दर्शक यत्र की आवश्यकता रहती है। वह सूक्ष्म दर्शक यत्र भी उस अवस्था से (दृश्य तत्त्व की अपेक्षा) कई गुना होता है। तभी वह उस सूक्ष्म को कई बडे आकार मे दिखा सकता है। यह तो एक भौतिक रूपक है, परन्तु अभौतिक अवस्था से अनुप्राणित क्रोध रूप को देखने के लिए अभौतिक सूक्ष्मतम यत्र से सदृश आतरिक

दृष्टि के पैनेपन की आवश्यकता रहती है। वह आतरिक दृष्टि समता से युक्त तथा किन्ही भी कर्म–स्कधो से अप्रभावित होनी चाहिए। ऐसी दृष्टि का विकास जब तक नहीं होगा, तब तक पुरुष अभौतिकता से अनुरजित क्रोध रूप स्कध को देख नही पाएगा। वैसी स्थिति मे वह वस्तुत आतरिक अनुभूति से "कोह दसी" नही होगा। जो "कोह दसी" नही हो सकता, वह "माण दसी" भी नही हो सकेगा। इस दृष्टि से अन्तर्यात्रा के पथिक को चाहिए कि वह सबसे पहले अतराभिमुखी लक्ष्य बनाकर आतरिक अवस्थाओ को देखने का अभ्यासी बने। इस अभ्यास मे उत्साह की निरतर अभिवृद्धि हो और उस दृष्टि को पाने के लिए जागरूक अभिलाषा बनी रहे।

अभ्यास की इस पद्धति के लिए समय की भी अपेक्षा रहती है। नियत समय पर किया जाने वाला अभ्यास विशेष सबल बनता है। अभ्यास का मुख्य माध्यम मस्तिष्क होता है, जिसमे अनुवाशिक सस्कारो के साथ–साथ वर्तमान से सबधित वायुमडल जनित सस्कार भी अपना प्रभाव रखते है।

वर्तमान कालिक वायुमडल की मुख्य धाराएँ विविध रूपो मे विभाजित है। दृष्टि प्रसार करने पर आज का ससार और उसके क्रियाकलापो का नक्शा मस्तिष्क मे जमने लगता है। पुन पुन उन दृश्यो को देखते रहने से एक प्रकार के स्थायी भाव की अवस्था का निर्माण हो जाता हे। वे मस्तिष्क मे अपना स्थान बना लेते हैं। ऐसा स्थान वे दृश्य अधिक बना पाते है जिन्हे आसक्ति भाव के साथ ग्रहण किया गया है। इन दृश्यो के केन्द्र तथा उपकेन्द्र भी भीतर मे स्थापित हो जाते हैं। इन केन्द्रो के माध्यम से मुख्य केन्द्र सक्रिय बना रहता है। उनके अनुरूप शब्द श्रवण की जिज्ञासा मस्तिष्क मे जागृत होती है। उस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए मस्तिष्कीय शब्द केन्द्र की रचना भी निर्मित हो जाती है। उस केन्द्र की शाखा–प्रशाखाओ के माध्यम से तदनुरूप शब्द ग्रहण की प्रणालियाँ भी एक टेप का रूप ले लेती हे। वेसे ही शब्दो को ग्रहण करने मे वे प्रणालियाँ तत्पर रहा करती है।

जब शब्द को आसक्तिपूर्वक ग्रहण किया जाता है तब तदनुरूप गध, रस और स्पर्श की प्रणालियाँ भी कार्यरत बन जाती है। इन सभी विषयो के पोषण के लिए खाद्य पदार्थ भी उनके लिए अन्वेषणीय हो जाते है। इन सबकी सम्पूर्ति आसक्ति के अनुरूप ही हो जाए– ऐसा भी प्राय नही बनता, तब फिर मानसिक विकल्पो का जाल मस्तिष्कीय वायुमडल मे व्याप्त हो जाता है। अहर्निश उन सकल्पो विकल्पो के तानो–बानो मे ही जीवनी शक्ति का व्यय होता रहता है। परिणामस्वरूप अन्य किसी विशिष्ट शक्ति के जागरण का अवकाश ही नही रहता। शब्द, रूप, गध, रस स्पर्श की इस प्रकार की प्रणालियाँ उनसे विपरीत दशा को स्थान देने मे रुकावटे डालती हैं, इसीलिए मनुष्य अधिकाशत खोया खोया सा यत्रवत् जीवन व्यतीत करता है।

मूर्छावस्था से जागृति :

शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श की वासनायुक्त प्रणालियो से प्रभावित जीवन को एक दृष्टि से मूर्छा का जीवन कह सकते हैं। मूर्छा का जीवन कह सकते है। मूर्छा की अवस्था मे कई बार व्यक्ति कार्य करता हुआ भी देखा जाता है। उसको उन कार्य पद्धतियो मे से कई पद्धतियाँ "काकतालीय न्याय" की दृष्टि से लोक–कल्याणकारी भी प्रतीत होती हैं और उनसे वह जन साधारण द्वारा सम्मान भी पा जाता है। वैसी दशा मे मूर्छा को अह वृत्ति की खुराक और मिल जाती है जिससे वह मूर्छाग्रस्त जीवन अपने आपको कृतकृत्य मान लेता है और सोच बैठता है कि मैं सब कुछ करने वाला हो गया हूँ– अब मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य शेष नही रहा। इस प्रकार की तन्द्रावस्था मे सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो जाता है। मस्तिष्कीय–तत्रो की अस्त–व्यस्तता मे ही शारीरिक शक्तियाँ क्षीण होने लगती हैं। फिर उसमे कुछ करने का उत्साह भी नही रहता। परिणामस्वरूप ऐसा मूर्छाग्रस्त जीवन कल्पित अतृप्त वासनाओ मे ही मृत्यु के आगमन की प्रतीक्षा करने लगता है।

कई पुरुष शारीरिक शक्ति के विद्यमान रहते हुए ही विशिष्ट सत्पुरुषो से सम्पर्क करके स्वय मे कुछ जागृति लाने का साहस

बटोरते है। मूर्छा से व्याप्त परिधि मे भी वे जागरण–केन्द्रो को जागृत करने का प्रयास करते है। उनका क्रम यह बनता है कि वे दिन–रात के चौबीस घटो मे से किसी भी शात प्रशात एक घटे के समय का चयन कर लेते है और उस समय मे नियमित रूप से एकात मे बैठकर अपनी मूर्छावस्था को विलग करने का पुरुषार्थ करते हैं। वे चेष्टा करते रहते है कि उनके आत्मस्वरूप की आदर्श अवस्था विकसित हो और वह दृढीभूत बने। उस समय मे दीर्घकाल से व्याप्त मूर्छावस्था से सबधित केन्द्र–उपकेन्द्र एव उनकी अधीनस्थ प्रणालियॉ साधक की जागृतावस्था की अकुरित ज्योति पर आक्रमण करती है। उस समय यदि साधक सावधान नही रहता है तो वह उन आक्रमणकारी प्रणालियो के अधीन हो जाता है तथा उन प्रणालियो मे ही अपनी साधना देखने लगता है। कुछ समय तक इस प्रकार की प्रक्रिया चलती रहती है। तब वह साधक स्वय हतोत्साह हो जाता है और सोचता है कि यह दृश्य जगत् ही सब कुछ है। अभौतिक तत्व का अस्तित्व भी उसके अदर मे दोलायमान हो जाता है। वह फिर आगे की सीढी पर चढकर जागृति के सूत्र को पकड नही पाता है।

इसके विपरीत कई साधक अपनी सामर्थ्य–शक्ति को पूरी तरह से व्यवस्थित बनाकर साधना के नियत समय मे उच्चतम चरम लक्ष्य को सम्मुख रखते हैं एव दृढ सकल्प के साथ साधना पद्धति को प्रारभ करते हैं। ऐसी दृढता के साथ वे मूर्छा जनित प्रणालियो के आक्रमणो को साहसपूर्वक झेलते हैं और उनके साथ सफल सघर्ष करते हैं। इस प्रकार अविचलित भाव से वे जागृति की दो–तीन सीढियॉ ऊपर चढ जाते है। उस समय कुछ स्थूलावस्थान के रूप मे रहने वाली विविध रगो से अनुरजित किन्ही ज्योतियो के देखने का प्रसग आता है। वहॉ यदि वह साधक सजग नहीं रह पाया और उतनी ही उपलब्धि को ही अपनी समग्र उपलब्धि मानने के भ्रम मे पड गया तो उस अवस्था मे मूर्छाजनित प्रणालियॉ साधक के आशिक जागृति स्वरूप को दबोच लेती हैं। तब वह आतरिक अनुभूति रूप समतामय दृष्टि का वरण नही कर पाता है।

कुछ साधक अपनी आतरिक शक्ति के प्रबल जिज्ञासु बनकर साधना के पथ पर आगे बढने का प्रयत्न करते है तथा सद्गुरु का सान्निध्य पाकर उनकी छोटी से छोटी अनुभूति हृदयगम करने लगते हैं। वे उनके आदेश–निर्देश को उपेक्षा भाव से श्रवण नही करते। वे दृश्य वस्तुओ से विलग होकर उनके प्रति बनने वाली आसक्ति को मध्यस्थ भाव के साथ अवलोकन करने की चेष्टा करते है। अहर्निश की दिनचर्या का वे प्रतिदिन निरीक्षण–परीक्षण करने का भी ध्यान रखते है। वे निरर्थक कार्यो मे अपनी अमूल्य शक्ति का अपव्यय नही करके समभाव के साथ आत्मस्वरूप को आलोकित करने का यत्न करते है। कौन पुरुष किस प्रकृति का है तथा किस लहर मे बहकर वह कार्य कर रहा है, इस तथ्य को वह साधक अवलोकन करता है तथा उसका कार्य अपनी वृत्ति के प्रतिकूल होने पर भी वह अपनी समभाव की वृत्ति को खडित नही होने देता। उसके साथ यथायोग्य आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करता है। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" उसका चितन बन जाता है। उसी चितन धारा मे वह साधक सोचता है कि "उसकी आत्मा भी मेरी आत्मा के तुल्य ही है लेकिन वह आनुवाशिक सस्कारो एव पूर्वकृत कर्मो के प्रभाव से सुषुप्त है। उसकी सुषुप्ति कैसे दूर हो, उसके लिए मै अपनी स्थिति मे रहता हुआ प्रयत्न करूँ। वह जागृत हो सकेगा या नही, यह मुझे नही सोचना है। मुझे तो इसके निमित्त से अपनी पवित्र दृष्टि का सृजन कर लेना है। वह जितना–जितना मेरे प्रतिकूल व्यवहार करेगा, उतना–उतना मुझे अतरावलोकन का अवकाश मिलेगा। यदि किसी समय उसके व्यवहार को देखकर मन मे झुझलाहट पैदा हो गई और उसको तिरस्कृत करने के लिए शब्दो का झटका दे दिया तो उसकी दुष्प्रवृत्ति बढेगी ही, साथ ही कुछ समय से प्रवाहित हो रही मेरी आतरिक शक्ति को जागृत करने वाली धारा भी टूट जायगी। तब उसकी क्षति की अपेक्षा मेरी क्षति अधिक होगी। इस प्रकार यदि बार–बार प्रतिकूल अवस्था को समभाव से मैं सहन करता रहूँगा तो आतरिक विकास की मेरी अभ्यास पद्धति एक दिन सफल होकर रहेगी।"

इस प्रकार का चितन जो साधक करता है और चितन अनुरूप अपने आचरण को ढालता रहता है, उसको मूर्छाजनित प्रणालियॉ शनै शनै क्षीण प्रभावी होने लगती है एव जागृति के केन्द्र बल पकडने लगते है। तब उस साधक के चरण मूर्छावस्था से स्थायी जागृति की ओर बढते चले जाते है।

आभ्यंतर शक्ति का विकास :

आभ्यतर शक्ति का सृजन जीवन की समस्त सृजनात्मक वृत्तियो से ही सम्भव होता है। ऐसी वृत्तियो का निर्माण करने के लिए निरतर उपयोग की आवश्यकता होती है, जो एक सजग प्रहरी के समान सदा सतर्क रहे। इन सृजनात्मक वृत्तियो के प्रतिकूल अन्य जितनी भी वृत्तियॉ उभरकर सामने आएँ, सतत जागृत उपयोग उनकी आतरिक शक्ति की धारा को खडित न होने दे। उसका सावधान प्रयत्न रहे कि वह धारा अबाध गति से बहती–बढती चले। वह उस धारा का समुचित सरक्षण भी करे तो समीक्षण दृष्टि से साथ अन्य वृत्तियो का अवलोकन एव विश्लेषण भी करे। वृत्तियो को उनके गुण–बल के अनुसार विभाजित करके वर्गीकृत कर ले और उनकी क्रियाओ का सूक्ष्म निरीक्षण करता रहे। साधक का ऐसा उपयोग सदा और सर्वत्र जागृत रहे।

सतत जागृत उपयोग की सक्रियता से साधक यह देखने के अपने यत्न मे सफल हो सकेगा कि विभिन्न वर्गो की समस्त वृत्तियो मे कितनी वृत्तियॉ मूर्छाभाव का प्रतिनिधित्व करने वाली हैं। समीक्षण दृष्टि से उसे यह भी ज्ञात हो जायेगा कि कौन–सी ऐसी वृत्तियॉ है जो ऊपर से तो जागृति के लिए हितावह होती है परन्तु वे छल–बल से अमुक दृश्य पदार्थ की आसक्ति की तरफ मुझे धकेल कर मेरी प्रवर्धमान समतानुभूति को प्रभावित करना चाहती है। वह यह भी देख सकेगा कि यदि उन वृत्तियो से मेरी प्रवर्धमान समतानुभूति किसी भी रूप मे प्रभावित हो गई और मे सामान्य रूप से भी मूर्छाग्रस्त हो गया तो उपलब्ध की हुई समग्र समतानुभूति भी विच्छिन्न हो जाएगी। यह

देखकर अपने वर्गीकरण मे सशोधन करता चला जाता है तथा अपने उपयोग मे सावधानी को बढा लेता है।

इस प्रकार आतरिक अवस्थान मे एक प्रकार का सघर्ष चलने लगता है। एक ओर मूर्छाजनित प्रणालियॉ आक्रामक रूप धारण किए रहती हैं तो दूसरी ओर आतरिक ज्ञान एव समतानुभूति के केन्द्र उन आक्रमणो को विफल बनाते रहते है। इस सघर्ष मे आभ्यतर शक्ति का श्रेष्ठतर विकास सम्पादित होता चला जाता है। आभ्यतर शक्ति के उत्तरोत्तर विकास के साथ साधक मे यह क्षमता उत्पन्न हो जाती है कि वह आसक्तिजनित भावो को ज्ञान केन्द्रो तथा उप–केन्द्रो पर से दूर करना आरभ करता है और जहॉ–जहॉ आसक्ति का रस या रग उसे दिखाई देता है, वहॉ–वहॉ वह समभाव के रस या रग का प्रसार कर देता है। इस प्रकार जैसे प्रकाश फैलने पर अधकार विलीन हो जाता है, उसी प्रकार आसक्तिजनित वृत्तियॉ और प्रणालियॉ आतरिकता के प्रागन मे विलीन हो जाती है।

समभाव एवं समीक्षण दृष्टि :

जब साधक का समभाव प्रबल बन जाता है तब समीक्षण दृष्टि तीव्र एव सतर्क बन जाती है। वह बाहरी ससर्गो से उत्पन्न होने वाली बाधक वृत्तियो का सफलतापूर्वक परिमार्जन करता रहता है। क्योकि निरतर आगे बढते रहने की उसकी अभिलाषा बलवती बन जाती है। वह सोचता है कि मेरा समभाव तथा मेरा समीक्षण दृष्टि अभ्यास के समय मे जितनी सवर्धित रहती है, वैसा ही उनका प्रभाव अन्य समय मे भी बना रहे, जिससे मै कभी भी बाधक वृत्तियो के होने वाली आक्रमण को विफल कर सकूॅ। जो वृत्ति विषम वृत्ति के साथ मेरे प्रतिकूल चले, उसकी प्रतिकूलता को भी मै अपनी सहायिका मानकर कार्य करूँ। उनके प्रति मेरी आभ्यतर शक्ति का ऐसा प्रभाव हो कि आक्राता वृत्तियॉ अपना आक्रमण–भाव छोडकर अस्तित्वहीन होती जाऍ। कदाचित् उन वृत्तियो की जडे अधिक गहरी हो और उनमे जल्दी परिवर्तन की सम्भावना न हो तो मैं यह सतर्कता रखूॅ कि वे

वाधक वृत्तियॉ मेरे आभ्यतर विकास मे हीन भावना पैदा न कर सके। समभाव एव समदृष्टि के साथ मे उन बाधक वृत्तियो के आक्रमणो को सहन करता रहूँ तथा जब भी काललब्धि परिपक्व हो जाए, उन वृत्तियो को अस्तित्वहीन बना दूँ।

समभाव एव समीक्षण दृष्टि के फलस्वरूप जब ऐसा चितन साधक का चलता रहेगा तो मन–मानस मे दुर्बलता का प्रवेश नही हो सकेगा एव आभ्यतर विकास निरतर पुष्ट तथा बलवान् होता चला जाएगा।

क्रोध की विफलता के सूत्र :

क्रोध की चिनगारी भीतर से उठते ही कैसे बुझा दी जाए और क्रोध को बढकर बाहर प्रकट हो सकने का अवसर ही न मिले, यह साधक की आभ्यतर विकास–दशा पर निर्भर करता है। क्रोध की विफलता के सूत्र उसके आतरिक चितन से ही उद्‌भुत होते हैं।

जब साधक पर विषमता का किसी व्यक्ति अथवा वृत्ति द्वारा आक्रमण हो तो उसके चितन की धारा इस प्रकार चलनी चाहिए– "ये विषय वृत्तियोवाले व्यक्ति मुझ पर अपनी विषमता का प्रयोग करके मेरी सहिष्णुता की परीक्षा करना चाहते है। यदि मैं असहिष्णु बन जाऊँगा तो फिर ये अधिक विषम प्रहार करना प्रारभ कर देगे। मै इनके विरोध मे जितना क्रोध और रोष करूँगा, तिरस्कार और ताडना तक बढूँगा, उतना ही मेरा अमूल्य जीवन–तत्त्व नष्ट होता जायेगा। मेरी सफल साधना छिन्न–भिन्न हो जायेगी, क्योकि क्रोध जनित क्रिया प्रतिक्रियाओ का क्रम तभी टूटता है जब जीवन ऊर्जा विलुप्त हो जाती है। मेरा क्रोध मेरे ही रस को विषाक्त बना देगा, मस्तिष्क के ज्ञान केन्द्रो को आग लगा देगा और दीर्घ आयुष्य को क्षति पहुँचाएगा। सद्‌गुणो की फसल उगाने वाली मेरी मानस भूमि को यह विनाशकारी क्रोध ऊसर वना देगा। मैं अपने सशक्त साधनो से दुनिया को अपने क्रोध की जीत भी दिखा दूँगा तो क्या वह जीत वास्तविक होगी ? क्या मै उस जीत के बाद अपने ही अत करण मे नगा और उद्दण्ड नहीं दिखाई दूँगा ?

विषम वृत्ति वाले व्यक्तियो को बाहर से पछाड करके भी क्या मैं उनकी वृत्ति को पछाड सकूँगा ? वह विषम वृत्ति तो तब अधिक प्रतिशोधात्मक बन जायेगी। दूसरी ओर क्या मै भी विषम वृत्ति की आग मे नही जलने लगूँगा ? तब फिर ऐसे क्रोध को मै उठने ही क्यो दूँ ? क्यो न उसकी उठती हुई पहली चिनगारी को ही भीतर ही भीतर बुझा दूँ और भीतर बाहर की अपनी शाति को तनिक भी भग न होने दूँ ?

क्रोध को विफल बना देने वाला यह सूत्र विषय वृत्ति वाले व्यक्तियो को भी प्रभावित करेगा और उन्हे समवृत्ति की दिशा मे मोड देगा।

साधक की चितन धारा पूर्वकृत क्रोध के परिमार्जन रूप मे भी चलती रहनी चाहिए, यथा– "मैने व्यर्थ ही क्रोध किया तथा रोष के वशीभूत होकर अपने व्यवहार को विकृत बनाया। मैंने इस प्रकार तन–मन को झुलसाया और जीवन को भी दूषित किया। मेरा पारिवारिक गौरव खडित हुआ, मेरी सामाजिक प्रतिष्ठा आहत हुई और मैं राष्ट्र की गरिमा को भी भूल गया। मै सिर्फ अपने ही अहभाव तथा ममत्व मे डूब गया और इस प्रकार अपने आभ्यतर विकास की महान् क्षति के नीचे दब गया। अहकार के नशे को ही मै अपनी जीत मान रहा था। यह कैसी विडम्बना थी। यह तो मेरी हार थी, क्योकि विजय तो उस पुरुष की हुई जिसने मेरे विद्वेषपूर्ण वचनो तथा क्रोध की फुफकारो के उपरात भी प्रतिकार के रूप मे एक शब्द भी नही कहा, बल्कि मुस्कराता रहा। उसने तो अपनी समता की शक्ति बढा ली और मैं विषम बनकर समता की शक्ति खो बैठा। यह मैंने भयकर भूल की है। मैं सकल्प करता हूँ कि भविष्य मे कभी ऐसी भूल फिर न हो।"

यह विचारणा क्रोध को विफल करने की बडी प्रभावशालिनी सिद्ध होगी। इस विचारणा से आतरिक सघर्ष मे समत्व की शक्तियो को बल मिलेगा तथा विषमताजनक शक्तियाँ दुर्बल बनकर धीरे–धीरे विलीन हो जाएँगी। साधक की यह विचारणा जितनी अधिक पुष्ट

होती जायेगी, वह भविष्य मे अधिकाधिक सुदृढ भी बनती जायेगी। तब साधक की चितन धारा इस रूप मे प्रवाहित होने लगेगी कि मैं अतरग मे रहने वाली विषम प्रवृत्तियो को रूपातरित कर लूँ, जिससे आसक्ति जनित केन्द्र, उपकेन्द्र तथा उनकी प्रणालियाँ सक्रिय न हो सके और न वे मेरे शरीर तथा मेरी मासपेशियो को उत्तेजित बना सके। बाहरी प्रबल निमित्त पाकर भी ये प्रणालियाँ निष्क्रिय बन जाएँ। घर मे बारूद भले भरा हो, अगर बाहर का कोई निमित्त उसे भडकाने वाला न पैदा हो तो उस बारूद के घर का कोई बिगाड नही हो सकता है। बाहर के निमित्त से ही बारूद भडक कर घर को नष्ट–भ्रष्ट कर सकता है। अत मैं किसी बाहरी निमित्त को आग की चिनगारी न बनने दूँ। साथ ही बारूद रूपी विषम वृत्तियो को मै सम मे रूपातरित करना आरभ कर दूँ ताकि घर को कभी कोई खतरा न हो। तब मेरी आभ्यतर शक्ति विशाल सागर का रूप ले लेगी, जिसमे कितने ही आग के गोले फेके जाएँ, सागर का कुछ नही बिगडेगा और वे आग के गोले बुझकर फेकने वालो को शाति की राह दिखा सकेगे। जब मै रूपातरण को पूर्णतया सफल बना दूँगा तब क्रोध को पूरी तरह विफल भी कर दूँगा और सच्चा "कोह दसी", भी बन जाऊँगा। यह मेरी सच्ची विजय होगी।

इस प्रकार का समीक्षण ध्यान यदि साधक निरतर करने लगे तो अल्पावधि मे ही वह क्रोध–समीक्षण कर लेगा तथा क्रोधजयी बन जाएगा।

क्रोध की तात्कालिक विफलता के भी पाँच सूत्र बताये गये हैं–

1. एकांत में चले जाएँ

क्रोध के भडकते ही उठकर एकात मे चले जाएँ ताकि क्रोध को बरसने का अवकाश नही रहेगा। जब कोई लक्ष्य सामने नहीं रहेगा तो स्वत ही वह शात हो जाएगा।

2. मौन हो जाएँ

उस समय मौन धारण कर ले ताकि वाचिक एव कायिक प्रभाव

तो समाप्त हो ही जाएगा।

3. क्रोध विरोधी चितन आरंभ कर दे

तब मानसिक सकल्पो को भी उत्तेजित होने से रोकने के लिए क्रोध विरोधी चितन आरभ कर दे ताकि क्रोध का विस्तार सभी द्वारो से बद हो जाए।

4. कार्य में प्रवृत्त हो जाएँ

अपेक्षाकृत शात भाव आते ही किसी भी कार्य मे लग जाएँ ताकि क्रोध का अवशिष्ट प्रभाव भी थोडे समय मे समाप्त हो जाए।

5. श्वास निरोध क्रिया करें

शरीर और मन पर से क्रोध के बाहरी विषाक्त प्रभाव को दूर करने के लिए दो चार मिनट तक श्वास निरोध क्रिया सचालित करे ताकि (स्वाभाविक स्थिति उत्पन्न हो जाए) हल्कापन लौट आए।

निर्विकार अतर्दृष्टि

निर्विकार अतर्दृष्टि ऐसी दृष्टि को कहेगे, जिसमे विकार का लेश मात्र भी न हो। उसके सामने चाहे जितना विकारपूर्ण प्रदर्शन उपस्थित हो जाए, इन्द्रियो के माध्यम से व्यक्ति के भीतर मे सुषुप्त विकार भले स्मृति–पटल पर उभरने लगे, पर वे विकार कार्य रूप मे परिणत न हो सके। उनको कार्यान्वित न होने देने की क्षमता जिस अनुभूतिमय दृष्टि मे पैदा हो गई है, वही निर्विकार दृष्टि का रूप ले लेती है, क्योकि वह दृष्टि उन विकारपूर्ण दृष्टियो की प्रचुरता मे से ही विकसित होती है। इसलिए विकारो के क्या और कैसे दुष्परिणाम होते है, इसका वह दृष्टि प्रत्यक्ष अनुभव ले चुकी होती है। पूर्वानुभव के कारण ही ऐसी निर्विकार दृष्टि विकारपूर्ण वृत्तियो का कुप्रभाव शरीर की मास–पेशियो पर नही होने देती है। स्मृति–पटल पर ही वे विकार सशोधित परिवर्तित हो जाते है। उनमे से निस्सार वृत्तियॉ विलग हो जाती है तथा सारपूर्ण वृत्तियॉ उसी अनुभूति की पुष्टिकारक बन जाती है।

प्रतिदिन नियत समय पर एकाग्रतापूर्वक यत्न किया जाए तो ऐसी निर्विकार अतरदृष्टि का शनै शनै विकास किया जा सकता है। प्रारभ मे विकारी वृत्तियो को अनावृत करने के लिए परिपूर्ण निर्विकारी तत्त्व का ध्यान करना होता है। जिस केन्द्र पर उसका ध्यान किया जाए, उसी पर प्रतिदिन नियत समय पर ध्यान लगाने की आवश्यकता होती है। प्रारभ मे एकाग्रता जमने मे कठिनाई आती है, क्योकि वहॉ कुछ भी दिखाई नही पडता है। परन्तु साधक दृढ सकल्प के साथ परिपूर्ण उत्साह से भरकर उपयोग को वहॉ टिकाये रखने की कोशिश करता है तो कुछ समय बाद वहॉ उनकी काली छाया दिखने लगती है, जैसी अधकार से परिपूर्ण रात्रि के समाप्त होने के समय दिखाई देती है, जिसे देखते-देखते वही कालिमा धीरे-धीरे लालिमा मे रूपातरित होती हुई प्रतीत होती है। तब ध्यान के समय मे कभी काली छाया तो कभी लालिमा आती जाती रहती है। फिर धीरे-धीरे कालिमा हल्की होती जाती है तथा लालिमा चमकदार बनती जाती है। उसी चमक की वृद्धि के साथ फिर सूर्य की किरणे दिखाई देती हैं। उस केन्द्र पर काले रग के बाद उसके स्थान पर नीला तथा फिरा हरा रग प्रकट होता है। यहा हरा रग गहरा होकर हरीतिमा के समान मनोहर हो जाता है। तदनन्तर विचित्र प्रकार के रगो की स्थिति प्रकट होती रहती है और उन्ही के बीच मे जाज्वल्यमान ज्योति प्रतिभासित होती है। उसके पश्चात् यदि साधक धैर्य का सम्बल लेकर गम्भीरतापूर्वक इनको पचाता हुआ दीपक के तुल्य लालिमा मे प्रवेश करने की योग्यता अर्जित कर लेता है तो निर्विकार अतरदृष्टि की किरणे स्पष्ट रूप से दृश्यमान होने लगती है।

यदि साधक इस अभ्यास क्रम को बिना किसी थकान के बढाता रहे और अकुर के रूप मे प्रकट हुई निर्विकार-दृष्टि का प्रतिदिन सपोषण एव सवर्धन करता रहे तो उसकी निर्विकार दृष्टि निरतर बढती रहती है। उसका प्रभाव तब अन्य केन्द्रो पर भी पडने लगता हे। पहले पहल कुछ समय तक उसमे उपयोग स्थिरता प्राप्त करनी होती है। फिर कुछ काल के पश्चात् साधना के नियत समय से भी आगे परिपूर्ण

समय तक उपयोग की स्थिरता स्थायी बन जाती है। उसके बाद उसी अभ्यास क्रम से उसमे प्रगाढ आनन्दानुभूति एव शत्रु–मित्र के प्रति समभाव की वृत्ति इतनी सु–व्यवस्थित हो जाती है कि साधना–काल के अतिरिक्त समय मे भी उसी प्रसन्नता के साथ निर्विकार दृष्टि का अनुभव होने लगता है। साधक इसी गति से आगे बढता रहे तो चलते–फिरते, खाते–पीते, उठते–बैठते, सोते–जागते आदि प्रत्येक अवस्था मे उसे निर्विकार दृष्टि की सुखद अनुभूति होने लगेगी। तब एक प्रकार से साधक का जीवन उन अनुभूतियो के साथ एकमेक हो जाता है।

फिर उस साधक के सामने कोई भी प्रसग आए, कितनी ही विकट परिस्थितियाँ पैदा हो, कैसा भी दूषित वातावरण निर्मित हो गया हो, उसकी आनन्दानुभूति मे किसी प्रकार की स्खलना नही पहुँच सकती। साधक अपने ऊपर पूर्ण नियत्रण स्थापित कर लेता है। वह अवस्था उसके जीवन को सफलीभूत बनाने मे सक्षम हो जाती है। उस निर्विकार दृष्टि मे निर्विकार तत्त्व ही भासित होने लगते है। विकारी तत्त्वो के भीतर मे भी वह दृष्टि निर्विकार अश को ही सम्मुख रख कर उसका प्रकटीकरण करती है। अतएव धनीभूत विकारो मे भी वह यत्किचित् निर्विकार तत्त्व ही ग्रहण करती है। जैसे रत्नो का वास्तविक पारखी कॉच के टुकडो मे से रत्न को खोज निकालता है या ककडो के बीच मिट्टी से लिप्त होने पर भी रत्न को खोज लेता है अथवा कीचड मे दबे रत्न को भी पहिचान लेता है। परन्तु उन कॉच के टुकडो, मिट्टी–ककडो या कीचड से अपने आपको प्रभावित नही होने देता है। उसकी दृष्टि पवित्र रत्न को खोजने मे ही लगी रहती है। अतएव दुर्गंधमय अशुचि से लिपटे रत्न को भी वह उठा लेता है, पर अशुचि से घृणा और विद्वेष नही करता, वैसे ही निर्विकार दृष्टि से सम्पन्न उपर्युक्त प्रकार का साधक गदे से गदे शरीर वाले व्यक्ति को देखकर भी उससे किचित् मात्र भी घृणा नही करता, चाहे वह भयकर कुष्ठ रोग से ही पीडित क्यो न हो। उसके शरीर मे स्थित निर्विकार तत्त्व को ही महत्व देता है। रोगो की दुर्गंधमय अवस्था को देखकर भी

वह अपनी निर्विकार दृष्टि मे किसी भी प्रकार की घृणा विद्वेषादि की विकृति नही आने देता है। वह उसकी शारीरिक अवस्था के कारणो को तटस्थ भाव से चितन मे लेता है। वह सोचता है कि इस आत्मा ने पूर्व मे घृणा, विद्वेष, क्लेश आदि विकारपूर्ण वृत्तियो से अपने अत करण को कालिमामय बनाया होगा जिसके फलस्वरूप ही उसके ऐसे कर्मो का बधन हुआ। अब उन्ही कर्मो के उदय का प्रसग आया लगता है। यह आत्मा इन रोगो की उपस्थिति मे दु ख पा रही है और हाय–विलाप करते हुए कर्मो का भोग ले रही है एव दुर्ध्यान करते हुए पुन वैसे ही कर्मो का बधन कर रही है। अज्ञानी आत्माओ के लिए ऐसा सिलसिला चालू रहता है। रोग की रोग से वृद्धि होती है, क्योकि रोग के हेतुभूत भाव मे विषमता होने से कर्म बधन भी पुन वैसे ही होते है। फिर उन कर्मो का उदय आने पर पुन वैसा ही कुध्यान चलता है। उस समय अधिक क्लिष्टता आने से कभी–कभी पूर्वापेक्षा भी अधिक जटिल कर्मो का बध हो जाता है। यह मिथ्यात्वी आत्माओ की दशा की अनादिकालीन शृखला चक्रव्यूह की तरह अटूट रूप से चलती रहती है।

कभी सत्पुरुषो के सम्पर्क से, सत्शास्त्रो के वाचन–मनन से अथवा काललब्धि की प्राप्ति से ऐसी आत्माओ को सद्बोध प्राप्त हो सकता है। उस सद्बोध मे सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति के साथ भावो का परिमार्जन होने लगता है। वे तब अपने आप मे स्थिर होने की कला भी सीख लेती है और उस अनादिकालीन मिथ्यात्व दशा की शृखला को तोडकर स्व–स्वरूप की ओर अग्रसर होने लगती है। जिन कारणो से कर्म बधन का सिलसिला चल रहा था उन कारणो को तब वे समाप्त करने की कोशिश करती है। फिर वे अपनी भावशुद्धि, वचनशुद्धि तथा आचरण शुद्धि भी करती रहती हैं।

शाति और प्रेम का वायुमंडल

क्रोध–समीक्षण एव क्रोध–त्याग के अभ्यास क्रम के पश्चात् साधक के चारो ओर का वायुमडल शाति और प्रेम के अनुभवो से

ओत–प्रोत होने लगता है। अपने अभ्यास क्रम मे वह व्यक्ति क्रोध का अविवेकपूर्ण दमन नहीं करता, बल्कि पूरे विवेक एव सद्भाव से उसका शमन करता है। वह समतापूर्वक चितन करता है कि विकृत अथवा विषय निमित्तो को देखकर या उनके समीप मे रहकर भी मै अपने परिणामो मे विद्वेष और कलुषिता को नही आने दूँगा– चाहे वे मुझे कितना ही तिरस्कृत करे, अपमानित करे और मेरे प्रति घोर अन्याय का व्यवहार करे। मैं अपने समभावो को तनिक भी खडित नही होने दूँगा। मै तो उनके प्रति अपनी पूर्ण सद्भावना ही व्यक्त करूँगा। मेरे शब्द मधुर ही रहेगे तथा कार्य नीतिपूर्ण ही। जैसे भी होगा मै उन्हे भी सशोधित करने का पूरा प्रयत्न करता रहूँगा। मै उभय पक्ष का हित ही साधूँगा, जिससे अशुभ भाव जनित कर्म बधन न हो।

इस रूप मे, शाति, प्रेम एव सौहार्द का वायुमडल बनने से उभय पक्ष के साथ–साथ अनेकानेक व्यक्तियो का भी हित–सम्पादन हो सकेगा। कल्पना कीजिए– एक व्यक्ति घी का पात्र लेकर चल रहा है और दूसरा व्यक्ति उसे उत्तेजित करके उस अमृत तुल्य घी को मिट्टी मे मिला देना चाहता है। तो क्या पहले व्यक्ति को यह विवेक नहीं रखना चाहिए कि वह अपने घी को बरबाद होने से बचाले ? यह तो बाह्य पदार्थ घी की बात है किन्तु क्रोध से उत्तेजित होकर कोई भी व्यक्ति आसानी से इतना अविवेकी बन जाता है कि अपनी मानसिक, वाचिक एव कायिक शक्ति को तो नष्ट करता ही है, साथ ही अपने आस–पास के वायुमडल को भी घृणा, विद्वेष तथा शत्रुता से कलुषित बना देता है। अत क्रोध की उत्तेजना मे बुद्धि को निष्क्रिय नहीं बना देना चाहिए।

अपनी बुद्धि का सदुपयोग करते हुए पूरी समझ के साथ क्रोध का शमन करते रहना चाहिए। क्रोध शमन के तात्कालिक पॉच उपाय बताये गये है–

1 पूर्व प्रतिज्ञा का विचार

क्रोध न करने तथा समभाव रखने की जो पहले प्रतिज्ञा की हुई

हो उस पर पुन पुन विचार करे।

2. पूर्व प्रतिज्ञा दृष्टि में ले

विचार के साथ उस प्रतिज्ञा को स्वय दृष्टा बनकर देखे।

3. प्रतिज्ञा का बारम्बार स्मरण करें

जब तक क्रोध शात न हो जाए, उस प्रतिज्ञा का बारम्बार स्मरण करते रहे तथा कदाचित् क्रोध उत्पन्न हो गया हो तो दण्ड–प्रायश्चित लेने का सकल्प करे।

4. मन और कार्य की दिशा बदलें

मन मे अन्यान्य शुभ विचारो को जागृत करे तथा कोई नया शुभ काम हाथ मे ले ले ताकि चित्तवृत्ति परिवर्तित हो जाए एव क्रोध का विस्मरण होकर शमन हो जाए।

5. पंचपरमेष्ठि का ध्यान करे

नेत्र बद करके नमस्कार महामत्र का एव पच–परमेष्ठी का एकाग्रतापूर्वक जाप करना आरभ कर दे।

क्रोध त्यागें, अजातशत्रु बनें

जिस पुरुष ने मानव तन के महत्व तथा आत्मा को समझा है, चितन–मनन के क्षणो मे इन तत्वो की उपलब्धि करने का निर्णय लिया है, उसी तन–मन से उनके साक्षात्कार की सभावना मान ली है तथा अपने ध्यान योग को उस दिशा मे मोड लिया है, वह साधक अपनी साधना की सिद्धि एक न एक दिन पा लेता है। इस साधना का आरभ होता है क्रोध के त्याग से, जो प्रगति करती हुई सभी विषय–कषायो को समाप्त करती है तथा समभाव, समदृष्टि एव समीक्षण ध्यान से विभूषित बनकर साधक को अजातशत्रु बना देती है।

मानव तन के भीतर रहा हुआ आत्म–तत्व मूल रूप से अविनाशी चिदानद–स्वरूप तथा अजातशत्रु स्वभावी है। इस तत्त्व के मूल रूप

को प्रकाशित करना ही साधना का चरम लक्ष्य है। जब लक्ष्य स्पष्ट और अविनाशी हो और साधना एकनिष्ठ, तब सिद्धि स्वयमेव समीप चली आती है। नाशवान पदार्थों के प्रति ममत्व का जब परित्याग किया जाएगा तो क्रोध के प्रकट होने के अवसर ही प्राय समाप्त हो जाएँगे। यदि नाशवान से विरक्ति होगी तो अविनाशी के प्रति ध्यान अधिक केन्द्रित होगा। उस अविनाशी स्वभाव की परिणति तब मानस तत्र पर उभारनी होगी। तब उसके अनुरूप, निर्मित होने वाली भावनाओ के प्रभाव से वाणी "माहणो" के रूप मे अभिव्यक्ति होगी। तब वही भावनाएँ कार्यो मे उतर कर सब ओर प्रेम की वर्षा करने लगेगी। समूचे वायुमडल मे मैत्री की सुगध फैल जाएगी। विभिन्न पर्यायो मे परिणत आत्माएँ "आत्मवत्" प्रतीत होगी और शत्रु भाव उत्पन्न ही नही होगा। जब कोई शत्रु नही होगा तो यही कहा जायेगा कि सभी शत्रु विजित कर लिए गये है। इस अवस्था मे ही किसी को अजातशत्रु कहा जा सकता है।

अभय बनें, अभय बनावें

अविनाशी आत्मस्वरूप की साधना से जब अजातशत्रुत्व प्राप्त हो जाता है तो वह साधक पूर्ण रूप से भय रहित हो जाता है। अविनाशित्व के साथ मृत्यु का ही भय नही। अत साधक सर्वप्रकारेण अभय बन जाता है। साधक के मानस तत्र मे व्याप्त अभय भावना तब व्यापक रूप से क्रियाशील बन जाती है। वह भावना विनाश रूप परिणति से भयाक्रात अवस्था वाले प्राणियो को अभय दान प्रदान करने के रचनात्मक कार्य मे परिणत होती है। मानस तत्र की उभय प्रणालियाँ उस समय दूसरो को भी इस प्रकार के कार्य की प्रेरणा देती है एव अभय भावना के अनुरूप पर्यायो को जानकर प्रफुल्लित होती है।

अभय भावना की यही परिणति वाचिक शक्ति मे परिवर्तित होकर समस्त आत्माओ को उदबोधन देती है। उसके उदबोधन का यह आशय होता है कि "मै स्वय नाश के भय को उपस्थित नही

करूँगी और दूसरो के माध्यम से भी ऐसा नही करवाऊँगी। अत तुम सभी मेरी ओर से पूरी तरह निर्भय रहो।" अतरात्मा की ऐसी नाद-ध्वनि विश्व मे रहने वाले समस्त प्राणियो के मानस तत्र को प्रभावित करती है। इस क्रिया की तदनुकूल प्रतिक्रिया उस साधक के साध्य के अनुरूप साधन मे सहायक होगी क्योकि सृष्टि के अतर्तन्त्र मे सूक्ष्म रूप से क्रिया और प्रतिक्रिया बनती रहती है, यथा ध्वनि की प्रतिध्वनि ध्वनि के अनुरूप ही होती है।

साधनों की प्रामाणिकता

साधन का दूसरा पक्ष प्रामाणिकता है। इसके बिना साधनो की समुचित पालना हो ही नही सकती। साधक द्वारा सर्वदा अपनी मर्यादाओ का उपयोग रखना तथा साधना को साध्याभिमुखी बनाये रखना अत करण की साक्षी के बिना सभव नही होता है। यह अत करण की सच्ची साक्षी ही साधनो की प्रामणिकता को बनाये रखती है। अत करण की प्रामणिकता वाचिक और कायिक रूपो मे ढलकर एक साधक के व्यक्तित्व को प्रामाणिकता से प्रतिष्ठित बनाती है।

इस रूप मे प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा उस साधक का रक्षा कवच बन जाती है, क्योकि जब कभी उसकी साधना मे कोई दुर्बलता के क्षण आते है तो उसके मन मे विचार उठता है कि यदि वह अपनी दुर्बलता को प्रारभ मे ही समाप्त नहीं कर देगा तो उसकी प्रामाणिकता को ठेस पहुँचेगी। प्रतिष्ठित प्रामाणिकता का निर्वाह उसकी सर्वतोमुखी सुदृढता का कारणभूत बन जाता है। ऐसी सुदृढता ही साधना के सघन वृक्ष को मूल रूप से सिचन करने वाली सहायिका होती है। इस सिचन के द्वारा उसकी साधना सिद्धि रूपी फल प्राप्त करने की दिशा मे अग्रगामी बनती है।

अतएव साधक को अपने साधन रूप मे उपार्जित प्रामाणिकता को प्रथम पक्ष के मानसिक धरातल पर अखडित रखना चाहिए। साथ ही बाह्य जीवन मे भी सभी पक्षो मे प्रामाणिकता की पूर्ण आवश्यकता

रहती है। इस प्रामाणिकता से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को निखार सकता है तो पारिवारिक जीवन मे भी प्रामाणिकता का सचार करता हुआ सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन मे प्रामाणिकता का महत्वपूर्ण वायुमडल निर्मित कर सकता है। प्रामाणिकता का दीपक आभ्यतर एव बाह्य दोनो प्रागणो को प्रकाशित करने वाला है। इस प्रकाश के बिना किसी भी क्षेत्र मे परिपूर्ण सफलता नही मिल सकती है।

जे कोह दंसी, से माण दंसी

समीक्षण–ध्यान एव समतामय आचरण के बल पर एक साधक अपनी साधना के अनुरूप क्रोध सबधी स्कधो का अवलोकन कर सकेगा। वह वीतराग देव की वाणी के अनुसार क्रोध के दृष्टा के रूप मे "कोह दसी" होगा। जब क्रोध को देखने की क्षमता उस साधक मे जागृत हो जाएगी, तब वह क्रोध रूप कार्य की जो समर्थ कारण–सामग्री होती है, उसका भी समीक्षण कर लेना।

जैसे क्रोध के स्कध आपेक्षिक दृष्टि से अति सूक्ष्म होते हैं, वैसे ही मान के स्कध भी अति सूक्ष्म होते हैं। अत जो साधक "कोह दसी" बन जाता है, वह "माण दसी" भी बन जाएगा। इसी कारण शास्त्र मे कहा गया है "जे कोह दसी, से माण दसी" अर्थात् जो क्रोधदर्शी है, वह मानदर्शी है। क्रोध की समर्थ कारण–सामग्री को देख लेने के साथ ही वह साधक मान की समर्थ कारण सामग्री को भी देख लेता है। तलघर मे उतरने के लिए जैसे सीढियो की आवश्यकता होती है, वैसे ही मानव जीवन की गहराइयो मे प्रवेश करने के लिए क्रोध समीक्षण को पहली सीढी के रूप मे ले सकते हैं।

क्रोध–समीक्षण की पहली सीढी पर जब साधक का पाव जम जाए, तब वह दूसरी पर उतरने का उपक्रम करेगा। अत जिस साधना के बल पर वह पहली सीढी पर सफलतापूर्वक उतर पाया था, निश्चित रूप से दूसरी सीढी पर उतरने के लिए उसकी साधना उसके अनुरूप अधिक समुन्नत बननी ही चाहिए। पहली सीढी से पॉव उठाने तथा उसके दूसरी सीढी पर जमने के बीच की साधना को इस रूप मे शास्त्रे

ने मान्यता दी है कि वह क्रोध समीक्षण से मान समीक्षण की ओर बढ रही है। उस समय मे क्रोध समीक्षण की सम्पूर्ति होती है तथा मान समीक्षण का पूर्व प्रारभी क्षण। यही "जे कोह दसी, से माण दसी" की सूक्ति का साधना–पथ है।

पहली सीढी से पैर उठाकर दूसरी सीढी पर उसे जमाने के बीच का समय वस्तुत साधना की कडी कसौटी का होता है। उन क्षणो मे पॉवो के लडखडा जाने की काफी सभावना रहती है। उस चलायमान अवस्था मे यदि साधक डगमगा गया और अपने को व्यवस्थित रूप से सम्भाल न पाया तो उसकी प्रगति या तो अवरुद्ध हो जाएगी अथवा उस चलायमान अवस्था मे वह पुन पहली सीढी पर आ जाएगी। वैसी स्थिति मे उसकी प्रगति रुक जायेगी। अत साधक को चाहिए कि वह अतरिम काल मे अपनी निर्विकार समीक्षण दृष्टि को अधिक तीक्ष्ण बनाए। पहली सीढी पर रहते हुए ही दूसरी सीढी के लिए व्यवस्थित तैयारी करे जिससे कि वह मान सबधी स्कधो को कार्य–कारण भाव के साथ देखता हुआ धैर्य के साथ दूसरी सीढी के लिए अपने पॉव उठाये। इस अनुसधान का सकेत प्रभु महावीर ने उपर्युक्त सूक्ति के माध्यम से आचाराग सूत्र मे दिया है और बतलाया है कि जो क्रोध का दृष्टा होगा, वही पुरुष मान का दृष्टा होगा। उसी का नकारात्मक रूप होगा कि जो क्रोध का दृष्टा नही है, वह मान का दृष्टा नही है।

क्रोध एक ऐसा कोहरा (धुंवर) है कि उसमे से दूर की वस्तु को देख लेना कठिन होता है। कभी–कभी तो बिल्कुल पास की वस्तु भी नजर नही आती और सामान्यतया जिस रूप मे वस्तु दिखनी चाहिए, कोहरे के कारण वह वस्तु उस रूप मे नहीं दिखाई देती। जितनी दिखती है, वह भी धूमिल सी दिखाई देती है। अत दूर की वस्तु को देख लेने का तो प्रसग ही नही रहता। वैसे ही अज्ञानी मानव का जीवन क्रोध रूपी कोहरे से प्राय व्याप्त रहता है। जब सूर्य की किरणे अधिक तेज बनकर उस कोहरे पर गिरती हैं, तब कोहरे का असर घटने लगता है। वैसे ही आत्मा रूपी सूर्य की निर्विकार समीक्षण दृष्टि रूप किरणे अधिक प्रखर बनेगी तभी क्रोध रूपी कोहरे का घनत्व कम

हो सकेगा, बल्कि वह सिमट कर मिटने लगेगा। वैसी स्थिति मे जीवन सबधी समीप का स्वरूप भी 'कुछ स्पष्ट दिखने लगेगा। इस प्रकार क्रोध के हटे बिना आगे की यात्रा सफल नही हो सकेगी। इस तथ्य को ध्यान मे रखकर साधक उभय रूप साधना को अखडित रखते हुए आगे चलने का प्रयास करेगा तो वह सीढी–दर–सीढी बढता रह सकेगा।

कार्य का उपादान कारण छोटा होता है। कारण को देखने से अज्ञात व्यक्ति सहसा यह निर्णय नहीं कर सकता है कि यह कितने विशाल कार्य का कारण बन सकता है। वट वृक्ष का बीज, वट वृक्ष का उपादान कारण है। वट वृक्ष रूपी कार्य की विशालता की तुलना मे वह बहुत ही छोटा होता है। वह छोटा–सा बीज रूप कारण वट वृक्ष कार्य मे परिणत हो जाता है। उसी प्रकार क्रोध स्कध रूप कार्य का कारण प्राय मान स्कध होता है। जब मान स्कधो से एक वृत्ति बनती है तो वह वृत्ति अह रूप विकार से ओत–प्रोत होती है। इसका व्यापक रूप सारे शरीर मे रहता है और मस्तिष्क का मुख्य केन्द्र अपने उप केन्द्रो की सहायता से मान वृत्ति का सचालन करता है। यह वृत्ति क्रोध की अपेक्षा सूक्ष्मता के साथ विशेष रूप से सक्रिय होती है, परन्तु इसकी सक्रियता सहसा ज्ञात नहीं होती, क्योकि यह वृत्ति शिकारी बिल्ली की तरह चुपचाप अपनी खुराक ग्रहण करने मे तत्पर होती है। इसे चारो ओर से अपनी पुष्टि की चाह रहती है। प्रतिक्षण यह लालसा बनी रहती है कि सारी दुनिया की मान प्रतिष्ठा मुझे ही मिल जाए। यह वृत्ति प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक व्यवहार को इसी तीव्रता से देखती रहती है कि उसका व्यवहार मेरे सम्मान के अनुकूल है या प्रतिकूल ? प्रतिकूलता की समझ के साथ ही उसका क्रोध भडक उठता है। इस रूप मे मान भी क्रोध का कारण बन जाता है।

अत साधक ''कोह दसी'' से ''माण दसी'' बनते समय अपनी साधना के सबध मे पूरी सतर्कता रखे तथा अपनी अन्तरयात्रा को प्रगतिशील बनावे।

मान-समीक्षण

जे कोह दंसी से माण दंसी

बाह्य जीवन की अपेक्षा आतरिक जीवन अतीव सुकोमल एव लचकीला होता है। उसमे भी जहॉ तक मानस–तत्र का सबध है, उससे समुत्पन्न होने वाली तरगे अत्यधिक सुकोमल होती है। वे तरगे शब्दोल्लेख से परे हैं। उनका यथार्थ मूल्याकन अभिव्यक्त करने मे शब्द समर्थ नही है। वृत्तियॉ क्षण–क्षण मे परिवर्तित होती रहती है। ऐसे वृत्तियो को भी सशक्त बनाने वाली एक ऐसी वृत्ति है कि उसकी समुपस्थिति मे अन्य वृत्तियॉ भी लचक नही खा सकती। जब वृत्तियॉ ही लचक नही खा सकती हैं तो मानस–तत्र एव शरीर का नम्र होकर झुकना कठिनतर बन जाता है। उस वृत्ति से अधिक विकार उत्पन्न होते हैं, जिनमे अत्यधिक प्रचलित एक विकार का नाम अभिमान है।

अभिमान की अवस्था जब अत्यत दृढीभूत बनती है, उस समय उसे लचकीला बनाने मे कोई विरले व्यक्ति ही कामयाब हो सकते हैं। यह वृत्ति जब पाषाण–स्तभ की भॉति बन जाती है, तब उस वृत्ति वाला पुरुष इतना अकडबाज बन जाता है कि जिसे झुकने का नाम सुनना भी नही सुहाता, झुकना–नम्रता धारण करना तो दूर की बात रही। उस अभिमान वृत्ति से मानस–तत्र पूर्ण रूप से प्रभावित बन जाता है। उस समय विनयादि सद्गुण लुप्त हो जाते है। मानव के आतरिक स्वरूप मे स्वाभाविक कोमलता होते हुए भी मानवृत्ति मानो चट्टान से अधिक कठोर हो जाती है। इस कठोर वृत्ति के कारण मानव अपने आपको विनष्ट करना पसद कर लेगा, पर झुकना पसद नही करेगा। इसी निष्ठुर–कठोर वृत्ति के कारण व्यक्ति अनेक दु खो का भाजन बन जाता है। परिणाम स्वरूप अनेक विपत्तियॉ, आपत्तियॉ, दु ख और द्वद्व की अवस्थाएँ निर्मित कर लेता है। वैसी अवस्था मे विचारो का प्रवाह भी अति कठोर एव क्रूर बन जाया करता है। कितनी भी दिल को दहलाने

वाली अवस्था क्यो न आये, उसके मन मे जरा भी कोमलता की वृत्ति उभर नही सकती, क्योकि तीव्र अभिमान वृत्ति से कोमलतादिक वृत्तियॉ आच्छादित रहती हैं। कभी–कभी पारिवारिक एव सामाजिक परिस्थितियॉ दयनीय बन जाती हैं। एक अभिमानी व्यक्ति के अभिमान के फलस्वरूप परिवार, समाज एव राष्ट्र का अहित कितना ही क्यो न हो, उस अहित को भी वह अभिमानाध पुरुष देख नही पाता। उसे कितना ही समझाया जाय, प्रथम तो वह समझ नही सकता, कदाचित् जनहित को समझने की वृत्ति उसके अतर मे अकुरित भी होती है तो अभिमान की वह कठोर वृत्ति उस अकुरित वृत्ति को निर्दयतापूर्वक विनष्ट कर डालती है। सीता को लौटाने के लिए मदोदरी ने रावण को बहुत समझाया। लौटाने की वृत्ति उसके मन मे उत्पन्न भी हुई, किन्तु रावण की उस क्रूर अभिमान वृत्ति ने उसे दबा दिया। वह सीता को लौटा नही सका। परिणामस्वरूप कितना भीषण सघर्ष एव सहार हुआ, यह सुज्ञजनो को विदित ही है।

इसी प्रकार के कई ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक घटनाचक्र शास्त्रो तथा ग्रथो से विदित किए जा सकते हैं। वर्तमान मे भी ऐसे काण्ड अनुभूति मे आ सकते हैं। एक समय मे बालेश्वर दुर्गावता मे शेष काल मे रुका हुआ था। उस समय वहॉ एक बहुत साधारण कारण को लेकर सामाजिक क्लेश फैला हुआ था। उस सघर्षमय क्लेश से बालेश्वर सत्ता और बालेश्वर दुर्गावता प्रभावित थे। उस सघर्ष से सबधित प्रमुख व्यक्तियो से परामर्श किया। उससे निष्कर्ष यह निकला कि उसमे लेन–देन सबधी कोई वस्तु नही थी, मात्र अमुक व्यक्ति समाज हित की दृष्टि से स्वाभिमान को गौण कर दे तो समग्र सघर्ष और क्लेशमय वातावरण समाप्त हो सकता है और अनेक व्यक्तियो को होने वाले अनावश्यक कर्म–बधन रूक सकते हैं। अतएव उनमे वार्तालाप करने पर पूछा गया कि वह व्यक्ति कहॉ है ? लोगो ने कहा– वह यहॉ आ नहीं सकता। बहुत बीमार है। आपके दर्शनो का इच्छुक भी है। आप वहॉ पधारे तो कुछ बात हो सकती है।

जब मै उसके घर दर्शन देने पहुँचा तो वहॉ उसे देखा। वह वृद्ध

होने के साथ ही रुग्णतावश चारपाई से उठ भी नही पा रहा था। उसके सामने सक्षेप मे सम्पूर्ण वृत्तात रखते हुए कहा– समाज की भलाई के लिए इस बात को गौण कर दो और ये सब बाते मेरी झोली मे छोड दो। अन्य सब शाति स्थापना के लिए तैयार है। केवल आप ही की उदारता की आवश्यकता है। तब वह बोला– महाराज सा। यह नही हो सकता। मैं जब तक जीवित हूँ तब तक यह होने का नही।

भगवान् महावीर का सिद्धात बताते हुए कहा गया कि इस प्रकार की मनोवृत्ति जीवन–समाप्ति तक रह जाती है तो वह पुरुष सम्यक्त्वी तो नही रहता सो नही रहता, ऐसी कठोर वृत्ति के परिणाम स्वरूप अग्रिम आयुषबध–नरकादिक गति का कर सकता है। तब उसने कहा– भले ही नरकादि गति मे चला जाऊँ पर इस बात को मै छोड नहीं सकता।

यह तो एक प्रत्यक्ष का उदाहरण है। विश्व मे ऐसे कई पुरुष निकल सकते हैं, जिन्होने इस प्रकार की अभिमान वृत्ति से स्व परकी दुर्गति के द्वार उद्घाटित किए हैं और कर रहे है।

यह अनतानुबधी अभिमान का लक्षण है। किन्तु कई भव्य प्राणी अप्रत्यख्यानी अभिमान से भी प्रभावित होते है। उनके मन मे भी इस वृत्ति से कठोरता आ जाती है, किन्तु वह जीवपर्यन्त टिकने योग्य नहीं होती। अधिक से अधिक बारह मास की अवधि मे सावत्सरिक पर्व के प्रसग से समाप्त हो जाती है। इस प्रकार की कठोरता को काष्ठ–स्तम्भ की उपमा दी जा सकती है।

काष्ठ–स्तम्भ को पानी से आर्द्र करने या अन्य किसी उपाय से मोडा जा सकता हे, वैसे ही जिस भव्य जीव को सम्यक्त्व को बोध यत्किचित् भी सम्यक्तया है, वह बारह मास की अवधि मे इस अभिमान की वृत्ति को छोडकर सम्यक्त्व को सुरक्षित रख सकता है।

तीसरी श्रेणी प्रत्याख्यानी अभिमान की है। उसमे भी आपेक्षिक कठोरता तो रहती ही हे किन्तु वह कठोरता बेत की लकडी की भाति

होती है। इसमे स्वाभाविक लचक की स्थिति रहती है। बारह मास के अदर ही, चौमासिकादि पर्व तिथियो पर वह गल जाती है। ऐसी वृत्ति श्रावक व्रत को स्वीकार करके चलने वाले वर्ग की होती है।

अभिमान की चतुर्थ वृत्ति सज्वलन रूप है। उसे बास की छिलके की या घास के तृण की उपमा दी जा सकती है। पैदा होते ही अतर्मुहूर्त के अदर–अदर वह विलय को प्राप्त हो जाती है। अधिक से अधिक काल तक रह भी गयी तो पक्ष की समाप्ति पर प्राय समाहित हो जाती है। सतवर्ग अपने सयमी जीवन को सन्मुख रख करके चलता है। कदाचित् किसी निमित्त से इसके मन मे अभिमान की वृत्ति पनपने लगती है तो वह अतरवलोकन के समय उस वृत्ति को पहचान कर समाप्त कर देता है। कदाचित् अतर की उस वृत्ति का सम्यक् तया अवलोकन न हुआ हो तो पाक्षिक प्रतिक्रमण के समय् अवलोकन कर ही लेता है और जागृत साधक को कर ही लेना चाहिए। यदि पाक्षिक प्रसग पर भी इस वृत्ति का साधु सवरण नही कर पाता है तो वह अपनी साधुवृत्ति मे न्यूनता लाता है और आतरिक उपलब्धियो से वचित बनता है। अतएव प्रत्येक सुज्ञ पुरुष को अपनी स्वाभाविक आतरिक समल–निर्मल वृत्तियो का अवलोकन करते रहना चाहिए, जिससे मनुष्य जीवन की सार्थकता साधता हुआ आत्मिक स्वरूप क्री ओर निरतर अग्रसर होता रहे।

अभिमानादिक दुर्वृत्तियॉ पर सापेक्ष है, आतरिक विकार से जन्य हैं। यथार्थ ज्ञानाभाव मे चैतन्य देव स्वय अपने स्वरूप को–निजी स्वभाव को विस्मृत कर देता है। तभी इस प्रकार की वृत्तियो का प्रादुर्भाव होता है। अज्ञता या अल्पज्ञतावश वह शुद्ध आत्मस्वरूप को भलीभाति नही समझने के कारण अन्य को हीन मानता है एव स्व को महान् न होने पर भी महान् मान बैठता है। ऐसे पुरुष की दृष्टि अन्य के प्रति समानता की न होकर विषमता की होती है। उसी के अधीन होकर कभी वह अन्य मानवो या प्राणियो को निमित्त बनाकर अभिमान वृत्ति को जन्म देता है तो कभी जड पदार्थो–भौतिक सम्पत्ति एव सत्ता को प्रश्रय देकर अभिमान के झूले मे झूलने लगता है। वह यह नही

सोच पाता है कि ये पर पदार्थ, सत्ता या सम्पत्ति न मेरी है, न होगी। मैं क्यो व्यर्थ ही इन कल्पित सयोगो से अपने आपके ऊपर उपाधि लाद रहा हूँ। इससे न मेरी आत्मा का और न पर का हित होने वाला है प्रत्युत् अन्य अनेक जहरीली वृत्तियाँ मेरे जीव मे इनके सहारे पनपेगी। इन उपाधियो के साथ अपने आप को लिप्त करना जीवन के सम्यक् विकास से हाथ धोना है।

इस अभिमान–वृत्ति के पनपने से विनय वृत्ति का लोप होगा एव विनय वृत्ति के अभाव मे सद्गुणो की प्राप्ति नही होगी सो तो नही ही होगी। किन्तु दुर्गुणो को अभिवृद्धि अवश्यमेव होगी। दुर्गुण एक ऐसा सक्रामक रोग है कि जिससे अन्य प्राणी भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। ऐसे रोग को पनपने देना किसी तरह से भी स्व पर के लिए लाभदायक नहीं है। यह अभिमान रूप वृत्ति जैसे ही मन मे प्रादुर्भूत होती है वैसे ही इससे सबधित कर्मों का सचय होता है। वह कर्मो का सचय सत्ता मे बना रहता है। जब अबाधाकाल आता है तब उदय मे आकर पुन आत्मा को उसी प्रकार के रोग से ग्रसित कर देता है।

अभिमान से प्रभावित आत्मा पुन अभिमान योग्य कर्म–पुदगलो का सचय करती है। यथा– बीजो से फसल और फसल से कई गुणित बीजो की उपलब्धि होती है। इसमे निमित्त बाह्य एव आभ्यतर दोनो ही हो सकते है। बुद्धिमान पुरुषो का कर्तव्य है कि पूर्व के अभिमान सबधी कर्म–दलिको को समाप्त होने दिया जाए, परन्तु अकुरित अभिमान को फलित न किया जाए, यथा– अनाज के अकुरित होने पर कृषक उनका सरक्षण पोषण न करे तो परिपक्व फसल से अनाज की अभिवृद्धि नहीं होती। यह व्यवहार तभी सभव हो सकता है जबकि कृषक को अधिक अनाज पैदा करने की चाह न हो।

इसी प्रकार साधक मे आतरिक जागृति उत्पन्न हो जानी चाहिए कि मुझे पूर्व के अभिमान सबधी कर्म–दलिको को समाप्त करना है तथा नये अभिमान सवन्धी कर्म–दलिको का सचय नही होने देना है। ऐसी अतश्चेतना जिसकी बन जाती हे वह अपने आपको इस प्रकार

जागृत बना लेता है कि जिससे अभिमान सबधी कर्मदलिको के कार्यकारण भाव को भलीभॉति जान सके और देख सके। उनको नष्ट करने के लिए यथायोग्य सत्पुरुषार्थ कर सके। यह कार्य तभी सफलीभूत होगा जब समीक्षण–ध्यान के माध्यम से निरतर समीक्षण दृष्टि को पैनी बनाया जाए।

काषायिक चतुष्क (चौकडी) मे अभिमान का गणित की अपेक्षा द्वितीय स्थान है। क्रोध का स्थान प्रथम है। अतएव क्रोध का समीक्षण हुए बिना मान का समीक्षण सम्भव नहीं, क्योकि क्रोध की अभिव्यक्ति आम जनता मे शीघ्रता से अनुमानित हो जाती है। किन्तु अभिमान की अभिव्यक्ति का बोध उतना सहज नही है।

क्रोध की अपेक्षा अभिमान की अभिव्यक्ति को समझने के लिए अधिक पैनी दृष्टि की आवश्यकता है। किन्तु क्रोध को देखते ही प्रज्ञा समीक्षण दृष्टि के साथ इतनी सक्षम हो जाती है कि फिर मान को देखने मे सुगमता आ जाती है। इसीलिए प्रभु महावीर ने उद्घोष किया कि "जे कोह दसी से माण दसी" जो पुरुष क्रोध को देखता है वही मान को देखता है।

क्रोध को देखने मे नियत समय की आवश्यकता रहती है। साथ ही क्रोध के बदले क्रोध न करते हुए उनके निजी स्वरूप देखने की आवश्यकता होती है। वह कर्म–दलिक के रूप मे भी होता है और भावरूप मे भी। उभयावस्था का क्रोध क्रोध–समीक्षण मे जाना जा सकता है।

क्रोध का सम्यक्तया समीक्षण हो जाने पर मान–समीक्षण किस प्रकार करना चाहिए, एतदविषयक वर्णन यत्किचित् रूप मे अग्रिम विवेचन से विदित किया जा सकता है। अतएव मान–समीक्षण की अभिलाषा रखने वाले साधको को एकाग्रतापूर्वक चितन–मनन के साथ अवलोकन करते हुए अभ्यासरत बनने की आवश्यकता है।

मान की परिभाषा

मान आत्मा की विकृत वृत्ति है। सहज स्वाभाविक चैतन्य वृत्ति

को विभाव रूप विकृत बनाने वाले कर्म–स्कध जब अहकार के रूप मे परिणत होते है, तब उन कर्मस्कधो को मानसज्ञा से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार के कर्मस्कध आत्मप्रदेशो के साथ क्षीर–नीर की भाति मिले हुए रहते है। जब तक इनका सत्ता रूप मे अवस्थान रहता है, तब तक इनका परिणाम मानसिक धरातल पर नही आता। जब स्थितिपाक होने पर वे उदयगत होते है, अर्थात् फल प्रदान करते है, उस वक्त इनका सूक्ष्म परिणाम आत्मा के स्वाभाविक निजगुण नम्रता को कुण्ठित कर देता है। इस परिणाम का विज्ञान साधारण व्यक्तियो को ज्ञात नही हो पाता। जब तक यह अवस्था रहती है तब तक मानसिक धरातल पर नम्रता की आभा झलकती है जिससे कि उसके विचारो मे आशिक नम्रता का यदा–कदा पुट लगता है एव वाणी के माध्यम से भी नम्रता सबधी स्वर यदा–कदा निकल पडता है और कायिक आचरण मे भी इसका आशिक रूप से व्यवहार हो सकता है। यह एक प्रकार के मान के स्वरूप की परिभाषा एव तज्जन्य सूक्ष्म परिणाम की बात हुई।

यो तो मान के असख्य प्रकार है। इन असख्य प्रकारो के हेतु रूप कर्म–स्कधो की तीव्रता, मदता आदि विविध अवस्थाएँ अध्यवसायो पर निर्भर रही हुई है। सत्तागत मान के स्कध उदयगत होते है, उस समय उनका प्रभाव मन को प्रभावित करता है। बाहर का कोई आधार नही मिलने पर भी पुरुष अपने आपको अभिमान की अवस्था मे अनुभव करता है। इसमे अपने आपको अधिक मान लेने के कारण आगे के विकास का द्वार अवरुद्ध होता है। ऐसी वृत्ति के बनने पर मानस–तत्र से सबधित सभी वृत्तियॉ, जो विकासोन्मुख थी, वे ह्रासोन्मुख हो जाती हैं। उससे जीवन पर घातक असर होता है। नवीन–नवीन वृत्तियो के सहारे जो विशेष उपलब्धि होने वाली थी, वह तो अवरुद्ध हुई सो हुई, किन्तु जिन वृत्तियों का अवनत अर्थात् अधोमुख होने का प्रसग आया वे वृत्तियॉ धीरे–धीरे शिथिल होने लगती है। इस प्रकार मानस–तत्र की वृत्तियो के शिथिल होने से अन्य शारीरिक तत्र भी अपनी वृत्तियो सहित शिथिल वन जाते हैं। यह रफ्तार (गति) अवसर्पिणी ह्रासशील काल की

तरह सभी शारीरिक अवयवो को दिन प्रतिदिन ह्रासोन्मुख बना देती है। इसका दुष्परिणाम समग्र शरीर पर भी पडता है। ज्ञानवाहिनी एव रक्तवाहिनी नाडियॉ सिकुडने लगती है, रक्त का सचार तीव्र व मद बना सकता है और कभी हार्ट का दौरा भी सम्भव हो सकता है। मस्तिष्क तनावपूर्ण स्थिति मे आ जाता है क्योकि आगे के विकास को अवरुद्ध कर लेने से उसके पास अतिस्वल्प ज्ञान रह जाता है। अन्य कोई उससे जानकारी चाहेगा तो उस समय उसका समीचीन उत्तर नहीं सूझे। समीचीन उत्तर के अभाव मे अन्य उत्तर देने पर वादविवाद का होना सम्भव होगा। उस समय वह पुरुष अपनी ही जानकारी की पकड के कारण अपने अह को शिथिल नही कर पाएगा। दूसरी तरफ से होने वाले प्रतिकूल व्यवहार को भी सहन नही कर पायेगा, जिससे चिता, तनाव आदि अवस्थाएँ रहनी प्रारभ हो जाएगी। इस सिलसिले के अधिक समय बने रहने पर मानसिक रोग के साथ–साथ आयु के नियत समय से पहले जल्दी उपभोग करने का निमित्त भी बन सकता है। इस प्रकार यह उदयगत मान पुरुष के लिए उपर्युक्त रीत्या घातक सिद्ध होता है।

इसी प्रकार बाह्य वायु मडल मे तरगित् होने वाली तरगे उस पुरुष के अह को अव्यक्त रूप से आघात पहुँचाने की स्थिति मे पहुँचती हैं, उद्वेलित करती है। उस समय वह पुरुष तिलमिला उठता है। प्रतीकार करने के लिए वह तत्पर बनता है। उत्पन्न हुई प्रतिरोधात्मक शक्ति और पूर्व तनाव आदि से प्रभावित होने से पाचन–तत्र के कार्य सचालन की क्षमता अस्तव्यस्त बन जाती है। परिणामस्वरूप खाद्य पदार्थो के रस से शरीर को सपुष्ट करने वाली जो धातुएँ निर्मित होने वाली होती हैं, वे सम्यक् रूप से नही, निर्मित हो पाती। परिणाम यह होता है कि शारीरिक सामर्थ्य को टिकाए रखने की क्षमता दिन–प्रतिदिन क्षीण होती रहती हैं। संरक्षण शक्ति के आभाव मे "शरीर व्याधिमदिरम्" बन सकता है। क्योकि शरीर के अदर ऐसी भी सरचना है जिससे शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य का सरक्षण होता है। बाहर से आने वाले शरीर के प्रतिकूल तत्वो पर वह रोक लगाती है।

शरीर तभी कामयाब हो सकता है जब उस सरचना को आवश्यकतानुसार रसादि से पुष्टि प्राप्त होती रहे। यदि आवश्यकतानुसार रसादि नहीं मिले तो समग्र जीवन ही समस्याओ से परिव्याप्त भारस्वरूप एव दु ख–द्वन्द्वमय बन जाएगा।

मान वृत्ति एक मधुर पॉयजन है– (मीठा विष है) ऊपर से यह रुचिकर ज्ञात होता है पर इसका परिणाम उपर्युक्त तरीके से घातक होता है। यद्यपि इसके सरचना सबधी कर्मस्कध, सूक्ष्मतर है, पर जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने मे तीव्र हैं। इस प्रभाव से शारीरिक हानि के अतिरिक्त आर्थिक हानि भी कम नही होती। क्योकि अर्थोपार्जन मे शारीरिक तत्र का बहुत बडा योगदान रहता है। शारीरिक चिंता की दशा मे वह योगदान नही मिल पाता। इससे आर्थिक कृशता भी पनपती जाती है। यशो–कीर्ति को भी घुन लग जाता है। परिवार, समाज एव राष्ट्रीय कर्तव्यो का विस्मरण होने से सर्वत्र अवज्ञा एव अपमान ही पल्ले पडता है। ऐसा पुरुष तन्मयतापूर्वक धार्मिक क्रिया तो कर ही कैसे पायेगा ?

मानग्रस्त मानव, धार्मिक क्रिया करना तो दूर रहा, धार्मिक शिक्षा को श्रवण करने का भी अपात्र बन जाता है। आगम मे कहा गया है–

"अह पचहि ठाणेहि जेहि सिक्खा न लब्भई।
थैमा कोहा पमाएण रोगेणाल स्सएणय।।" उत्तरा– 11–3

इन पॉच स्थानो–कारणो–दोषो से युक्त प्राणी शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता, यथा अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य।

शिक्षा प्राप्ति मे अभिमान अधिक घातक होने से शास्त्रकार ने यहॉ उसे सबसे पहले रखा है।

अतएव मान का स्वरूप और इसके दुष्परिणाम उल्लिखित सक्षिप्त विवरण से भलीभाति जाने जा सकते है।

मान के आभ्यंतर एवं बाह्य निमित्त

आभ्यतर निमित्त है– मान सबधी कर्मदलिको की (स्कधो की)

स्थिति समाप्त होने पर उदय मे आना अथवा अतर की किसी विशिष्ट शक्ति का प्राप्त होना आदि। आभ्यतर निमित्त मान के उदय मे सहायक होते है। बाह्य निमित्त विविध प्रकार से मान के दलिको को उदय मे लाने के लिए सहायक बन जाते हैं। किसी को कुछ आवश्यक वस्तु लाने के लिए कहा और उसने इकार कर दिया। उसकी इकारी भी मान को उद्वेलित कर सकती है।

व्यापार मे अतराय कर्म के क्षयोपशम से कुछ उपलब्धि हो गयी तो उस समय व्यक्ति उस उपलब्धि के निमित्त से अहकार की पुष्टि कर बैठता है। कदाचित् समाज मे वक्तव्य देने की किचित् कला आ गयी तो वह फूला नही समाता और अपने आपको बहुत बडा वक्ता मान बैठता है। कभी–कभी कुछ व्यक्ति उसको अपना प्रतिनिधित्व दे देते हैं। तब तो फिर कहना ही क्या ? चचल मर्कट की भॉति कूदने लगता है। कदाचित् सयोगवश सरपच बन जाता है, तो फिर हवा से बाते करने लगता है। प्रत्येक व्यक्ति को तिरछी निगाह से देखता हुआ यह जतलाता है कि मुझ से कोई टकराव मत लेना। टकराव लेने वाले को मैं तहस–नहस कर सकता हूँ। अधिक आगे बढने पर नगरपालिका का चेयरमैन बनने का प्रसग आ गया तब तो मानो वह नगर का जागीरदार बन गया।

पैसो के बल पर या छल–बल से कदाचित् विधानसभा के चुनाव मे विजयी हो गया– एम एल ए बन गया तो उसका अह कई गुणा अधिक बन जाता है। मुख्यमत्री अथवा प्रधानमत्री बनने का प्रसग आ गया तो फिर कहना ही क्या ! "मै चौडा–गली सॅकडी" वाली कहावत को चरितार्थ करने लगता है। कभी कोई व्यक्ति पूर्व जन्म के पुण्य से, प्राप्त धन से, कदाचित, आर्थिक दृष्टि से निर्बल व्यक्ति का कुछ सहयोग कर देता है तो उस व्यक्ति को सदा हीन दृष्टि से देखने लगता है। प्रति समय अपना अहसान जतलाता रहता है। कोई व्यक्ति किसी को कुछ कह देता है और काकतालीय न्याय से उससे उस व्यक्ति की समस्या कुछ हल हो जाती है और कृतज्ञतावश उसके मुख से ये शब्द निकल पडते हैं कि आप बडे

बुद्धिशाली है। आपने बहुत अच्छा सुझाव दिया, मेरा कार्य बन गया इत्यादि, तो यह श्रवण कर वह अपने आपको बहुत बडा विद्वान् समझने लगता है। कानून विषयक कोई बात सत्य हो जाती है, तो अपने आपको वकील मान बैठता है। दो पुरुषो के लडाई–झगडे के मध्य सहजता से कोई शब्द नि सृत हो गया, दोनो के लडाई–झगडे के निवारण मे वह हेतु भूत बन गया और दोनो व्यक्तियो ने कहा– भाई, आपकी सूझबूझ तो एकदम अनोखी है । इस बात को श्रवण कर मानी मानव सोचने लग जाता है कि मै सुप्रीम कोर्ट (सर्वोच्च न्यायालय) का जज हूँ। कोई व्यक्ति कुछ धार्मिक क्रियाएँ करने लगता है और उसकी वह क्रियाएँ अभी वर्णमाला के तुल्य भी नही है। फिर भी किसी साधारण व्यक्ति ने उससे कह दिया कि आप बडे धर्मात्मा व्यक्ति है, तो फिर वह सोचने लगता है कि मेरे समान धर्मात्मा अन्य कोई नही है। किसी ने पॉच, सात उपवासादि कर लिए और लोगो के मुँह से "तपस्वी" शब्द का प्रयोग किया गया तो वह सोच बैठता है कि मुझ सम कोई तपस्वी नही है। मै किसी को भी शाप देकर भस्मीभूत कर सकता हूँ । वरदान प्रदान कर निहाल कर सकता हूँ, इत्यादि। इस प्रकार मानवो के मन विभिन्न कारणो से मान की वृत्तियॉ उद्‌भूत होती रहती है। वे मान रूपी मधुर विष से मूर्च्छित, बेहोश बने रहते है। उस बेहोशी मे उनको अपनी वास्तविकता का विचार तक नहीं आता कि मैं वस्तुत किस धरातल पर स्थित हूँ। मेरा कैसा व्यवहार है ? क्या मैं कर रहा हूँ ? यह मेरा वर्तन किन भावो का द्योतन एव किस दशा का सूचन करने वाला है ? मैं घोरातिघोर अज्ञानाधकार मे भटक रहा हूँ या प्रकाश के सन्मुख हूँ ? मेरी दृष्टि वस्तु स्वरूप को समझने मे सक्षम है या कि कर्तव्य विमूढ है ?

अभिमान के निमित्त

अभिमान का उपादान कारण तो स्वय आत्मा है किन्तु उसके निमित्त कारण मुख्यतया दो प्रकार के है– एक बाह्य और दूसरा आभ्यतर।

बाह्य निमित्त अनेकानेक एव अनियत है। उनमे व्यक्तियो का सम्पर्क भी एक कारण है। इर्द–गिर्द आर्थिक दृष्टि से कमजोर व्यक्ति रहेगे तो वे व्यक्ति अभिमान के निमित्त बन जायेगे। पच पचायत मे विशेष बोलने वाले न रहे, एक ही व्यक्ति कुछ अधिक बोलने वाला हुआ तो नही बोलने वाले व्यक्ति बोलने वाले के मन मे अभिमान को जागृत बनाने मे निमित्त बन जायेगे। कुछ व्यक्ति किसी व्यक्ति के कुतर्को का समीचीन प्रत्युत्तर न दे पाये और गुणानुवाद कर दे तो उस से भी अभिमान के उभरने मे सहायता मिलती है। गृहस्थाश्रम मे रहते हुए कई पुरुष त्याग–प्रत्याख्यान एव किचित् भी धर्मसाधना नही कर पाते। उनमे से यदि कोई व्यक्ति यत्किचित् कुछ त्याग करता है, यथा– ऊपर से नमक न लेना, भोजन न मागना, नियमित सामायिक कर लेना आदि। इन कार्यो को देखकर अन्य, जो यह कार्य न करने वाले हैं, वे कहते है– "साहब ! यह तो बहुत बडे त्यागी है, ऊपर से नमक नही लेते है। यह भोजन मागते नही है और सामायिक नित्य करते है।" ऐसा कथन भी अल्प सत्व वाले व्यक्ति के लिए अभिमान का निमित्त बन जाता है। ऐसा निमित्त पुन पुन मिलने से वह पुष्ट होता चला जाता है। कभी–कभी अल्प सत्व वाले व्यक्तियो के लिए उत्तम जाति का प्रयोग भी अभिमान का कारण बन जाता है। किसी परिवार मे कौटुम्बिक जन की सख्या बढ जाने से भी अज्ञ जनो के मन मे अभिमान की भावना जागृत हो जाती है। कभी कोई पुरुष कुछ कमजोर व्यक्तियो को गिरा देता है अथवा उसके साथ हाथा–पायी करने मे बलशाली होता है तो वह भी अभिमान का निमित्त बन जाता है। बौद्धिक क्षमता रखने वाला अधूरा विद्वान् कभी–कभी अन्यो को वाद–विवाद मे परास्त कर देता है, तब उनकी पराजय और अपनी जय स्वरूप अभिमान की जागृति हो जाती है। इसी प्रकार के अन्य भी कोई बाह्य निमित्त अभिमान को उत्तेजित करने वाले बन जाते है।

यद्यपि ये बाह्य निमित्त तभी कामयाब होते हैं, जबकि मान सबधी कर्म–वर्गणा के स्कध आत्मा के साथ विद्यमान रहते हे। यथा– कुछ रोगाणु शरीर मे व्याप्त होकर स्वास्थ्य सरक्षक परमाणुओं को शिथिल

एव कमजोर बना देते है। तब फिर अन्य स्थलो पर रहने वाले रोगाणु भी भीतर के रोगाणुओ को सबलता प्रदान कर शरीर को रोगग्रस्त बना देते हैं। यदि भीतर मे रोगाणुओ का अवस्थान यत्किचित् भी न रहे तो स्वास्थ्य सरक्षक परमाणु शिथिल एव निर्बल नहीं बन पायेगे। परिणामस्वरूप अन्य स्थल पर निवास करने वाले रोगाणु कितना ही बल क्यो न लगाएँ, शरीर को रोगग्रस्त करना चाहे, पर वे उसमे कतई सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। उनकी समग्र शक्ति विफल सिद्ध होती है। वैसे ही मान--स्कध जब तक अतरग मे विद्यमान है तब तक उससे आत्मीय विवेक शक्ति विलुप्त सी रहती है। परिणामस्वरूप आत्मा को रुग्ण बनाने वाली वृत्तियो का प्रतीकार नही हो पाता और बाह्य निमित्तो का उन कमजोर वृत्तियो पर, प्रभाव छा जाता है। वे मान सबधी रोगाणुओ के प्रकट होने मे सहायक बनते है। इस दृष्टि से बाह्य निमित्त अपने कार्य मे सफल हो जाते है। यदि आत्मप्रदेशो से मान सबधी समग्र कर्मस्कध वासना सहित न रहे तो कितने भी निमित्त उपस्थित क्यो न हो, उनसे मान सबधी कोई भी प्रक्रिया जीवन मे उभर नही सकती। अतएव बाह्य निमित्तो को सपुष्ट करने एव सबल देने वाले भीतर मे अवस्थित कर्मस्कध हैं।

मान के आभ्यंतर निमित्त

कोई भी सबल निमित्त उपस्थित न हो किन्तु पूर्वबद्ध एव अतरग मे रहे तो मान सबधी कर्मवर्गणा के स्कधो की स्थिति समाप्त होने पर जब वे स्वाभाविक रूप से उदयावस्था को प्राप्त होते है तब उन मान सबधी कर्म--स्कधो के उदय होने पर सामान्य निमित्त से भी अध्यवसायो एव मानस तत्र पर प्रभाव होने लगता है। परिणामस्वरूप वे स्वय ही अपने आप से वडवडाने लगते हैं। मान सूचक शब्दोच्चारण भी मुख से होने लगता है। उसका दुहरा प्रभाव होता है। पहला तो मान की अवस्था मानस तत्र के माध्यम से शरीर के अदर ज्ञानवाहक नाडी तत्र मे तनाव उत्पन्न करती हैं जिससे कि तज्जनित पूर्व वर्णित मिष्ट पॉइजन का जीवन पर असर होता हे। दूसरा यह हे कि उस मान की अवस्था

को सत्कार के साथ आदर देने से अन्य नवीन मानस्कधो का कई गुणा बध हो जाता है।

जैसे अनाज के एक बीज के अकुरित होने पर वह बीज तो समाप्त हो जाता है। परन्तु जब उसकी फसल परिपक्व होती है, तब अनेक नूतन बीज तैयार हो जाते हैं। इस एकदेशीय उदाहरण से समझा जा सकता है कि मान सबधी कर्मवर्गणाओ से कितने ही गुणा नवीन कर्म बधन की परिणति उत्पन्न होती है।

इन सभी दृष्टिकोणो का सही विज्ञान तभी हो सकता है जब मानव की दृष्टि "समीक्षण" बन जाए। समभाव पूर्वक तटस्थता से अपनी इन वृत्तियो को देखने का प्रयत्न करने पर ही उसे भासित होने लगेगा कि– मैं क्या कुछ कर रहा हूँ ? एक बूँद पानी को घडे भर के रूप मे समझ रहा हूँ, तिल को ताड के रूप मे देख रहा हूँ, गदे पानी की बूँद को निर्मल जल के रूप मे समझ रहा हूँ, नगण्य यत्किचित् बातों को लेकर मैं अपने मानस तत्र को, ज्ञानादि केन्द्रो को मान रूपी मधुर जहर से प्रभावित करके निर्जीव बना रहा हूँ। इन विषम भावो से मान का पोषण कर वर्तमान जीवन का अहित कर रहा हूँ एव भावी जीवन को भी गहनतम तमस् मे ढकेलने का उपक्रम कर रहा हूँ। आत्मा की स्फटिक विमल वृत्तियो को इस मीठे विष से मलिन बना रहा हूँ। कहॉ तो मेरा यह अमूल्य नर–तन और कहॉ यह कूडा करकट एव अशुचि दुर्गंध युक्त पदार्थो की दुर्गंध के तुल्य ये मानसिक वृत्तियॉ। इन वृत्तियो से मैंने बुद्धि का ह्रास किया, विकास को अवरुद्ध किया। पवित्र भावनाओ का उपमर्दन किया, जीवन की अमूल्य घडियो को व्यर्थ मे विनष्ट कर दिया। अतएव समीक्षण दृष्टि को अपना कर मान रूप इस मधुर पॉइजन के यथार्थ स्वरूप का अवलोकन कर मैं इससे बचने का सतत प्रयास करूँ।"

दुर्दांत शत्रु मान

मान एक दुर्दांत शत्रु है। सामान्य जनता सशक्त शरीर वाले बलवान् प्रतिपक्षी को दुर्दांत शत्रु मानती है। पर वस्तुत सशक्त शरीर

पिड वाला दुर्दात शत्रु नही हो सकता, वह तो शत्रु का माध्यम बनता है, हथियार या औजार बनता है। वास्तविक शत्रु शरीर के भीतर मानसतत्र पर उभरने वाले मान सबन्धी कर्मस्कधो का उदय होना है। उनका प्रभाव मानसतत्र को प्रभावित करता है। जब मानसतत्र उस मान के अधीन बन जाता है तब उसका कार्य प्रतिक्षण, प्रतिपल, मान रूपी दुर्दांत शत्रु के कार्य को सम्पन्न करने मे लगा रहता है। मानसतत्र शरीर व्यापी है।

शरीर के प्रमुख अग पॉच इन्द्रियॉ हैं। इन पॉच इन्द्रियो के माध्यम से मानसतत्र इस खोज मे, टोह मे रहता है कि मेरे ऊपर जिसका प्रभाव है, उस प्रभाव मे कभी कही कमी न आने पावे। मैं हर समय उसके लिए सतत सावधान रहूँ और वह मानसतत्र मान के प्रवाह मे प्रवाहित हो कर चलता है। उस समय अन्यान्य केन्द्रो सबधी कार्यो का वह मानसतत्र सम्पादन करता है। किन्तु उन अन्य कार्यों को निष्पन्न करता हुआ भी मान को ठेस न पहुँचे, इस बात के लिए सतत जागरूक रहता है। यदि मान को किसी भी कार्य से स्वल्प भी चोट लगती है तो मानसतत्र अन्य केन्द्रो के कार्यो को छोड बैठता है और मान सबधी आघात की प्रतिक्रिया करने लगता है। उस प्रतिक्रिया के प्रवाह मे वह शरीर गत अन्य तत्रो का कुछ भी ध्यान नहीं रखता हुआ इतना कुछ कर बैठता है कि जिससे अपने सहयोगी तत्रो का भी दुरुपयोग करने लगता है। जब नेत्र के अन्यान्य कार्य करते हुए नेत्र के समीप मान का अनुयायी मानसतत्र यह अवलोकित करता रहता है कि अमुक रूपवान व्यक्ति अपने रूप के माध्यम से मेरे स्वाभिमान को चोट तो नहीं पहुँचा रहा है, वह उस रूपवान व्यक्ति के हाव–भाव एव नेत्र आदि चेष्टाओ का सूक्ष्मता से अनुसधान करता है। जैसे "करफ्यू" के समय सैनिक अधिकारी आने–जाने वालो की चौकसी करता है और यह देखता है कि ये आने–जाने वाले व्यक्ति करफ्यू के आदेश के प्रतिकूल नहीं कर रहे हैं। उसको ज्ञात हो जाए कि करफ्यू भग हो रहा है तो वह उस व्यक्ति को वहीं रोक देता है। उसके ऊपर प्राप्त अधिकारानुसार कार्यवाही करता है। ठीक वैसे ही एक दृष्टि से चितन

किया जाए तो नेत्र के माध्यम से जो कुछ भी होता है उसका वह मानसतत्र बारीकी से अवलोकन कर, सभाला (तलाशी) लेता है। उसमे यदि यत्किचित् भी मान को ठेस पहुँचाने वाली वस्तु अवलोकित करता है तो उसको अपने मानसतत्र के घेरे मे आरुद्ध कर लेता है। जब श्रोत्रेन्द्रिय से सबद्ध मान से प्रभावित मानसतत्र के अवयव शब्द सबधी अन्वेषण मे तत्पर रहते है तब यदि उनको ज्ञात हो जाता है कि अमुक शब्द मान को हानि पहुँचाने वाले है तो उसकी सूचना मानसतत्र के केन्द्र मे पहुँचाते है। केन्द्र की ओर से रसनातत्र के पास रहने वाले मानसतत्र को आदेश मिलता है कि बोलने वाला व्यक्ति अमुक तरह के शब्दों को प्रयोग न करे, एतद् विषयक ध्यान रखा जाए, यदि शब्द प्रयोक्ता आदेश को ध्यान मे रख लेता है एव मान के प्रतिकूल कुछ भी नहीं बोलता है, तब तो रसनातत्र के समीप रहने वाले मानसतत्र के अवयव तटस्थ होरक उसको, यनि सामने वाले व्यक्ति को बोलने देते हैं, किन्तु सामने के मुख से निकलने वाले शब्दो का बारीकी से अवलोकन चालु रहता है। जब रसना इन्द्रिय के पास रहने वाले मानसतत्र के अवयवो को यह ज्ञात हो कि यह पुरुष इकार करने के उपरात भी मान के विपरीत शब्दो का रूपातरण नही कर रहा है, तब फिर उसकी सूचना मानसतत्र के केन्द्र को पहुँचती है और वह केन्द्र अपने सहयोगी क्रोध को निर्देशन देता है कि मान के विपरीत सामने खडा पुरुष बोलना बद नही कर रहा है, शक्य प्रयत्न किए जा चुके है और वे सभी प्रयत्न विफल रहे हैं। अतएव अवसर आ गया है कि आप अपना बल शब्द रूपी एटम से दिखाएँ। उस समय क्रोध रूपी तत्र अपने माननीय साथी मान की सुरक्षा करने के लिए सारे मानस तत्र पर अपना प्रभाव डालता है एव नयन लाल अगारे के तुल्य बना वीभत्स रूप धारण कर क्रोध अवस्था मे शस्त्र बरसाने लगता है और उस शब्द बोलने वाले व्यक्ति को उत्तेजक एव करारा उत्तर देता है। उसकी मानसिक वृत्ति को झकझोर देता है। मान को क्षति पहुँचाने वाले शब्दो को प्रयोग भी भूलकर वह भी अपने अतर्मन मे रहने वाले मान के साथी क्रोध को उद्वेलित कर देता है। परिणामस्वरूप उसके

मुँह से भी ऐसे शब्द नि सृत होने लगते है कि जिससे सामने वाले व्यक्ति के मानसतत्र पर अधिक प्रहार हो। इस प्रकार परस्पर सघर्ष छिड जाता है। दोनो पुरुषो के होठ फडफडाने लगते है। दत–पक्तियाँ कटाकट करने लगती हैं। हाथ और पैर कॉपने लगते है। त्वचा मे ऊष्मा व्याप्त हो जाती है। नाक से गर्म वायु वेग से निकलने लगती है एव दोनो स्वय के स्वरूप को भूलकर युद्ध क्षेत्र मे उतर जाते हैं। इस प्रकार उन दोनो के मान का यह द्वद्व देखते ही बनता है। परिणामस्वरूप दोनो की इतनी क्षति होती है जिसकी सम्पूर्ति होना अति ही कठिन होता है। उन दोनो के मान मे से जिसकी सहयोगी शक्तियॉ अधिक प्रबल होगी वे शक्तियाँ प्रतिपक्षी मान एव क्रोध को दबा देगी। अपने आप पर प्रतिपक्षी की विजय नही होने देगी। अनुकूल अवसर मिलते ही वह पराजित–दबा हुआ मान पुन शक्ति के साथ उभरेगा और विजयी मान को पछाडने की चेष्टा करेगा। किसी समय उसे पराजित करेगा तो किसी समय स्वय पराजित होगा। इस प्रकार दोनो मान रूपी योद्धाओ की कुश्ती उन बडे–बडे शारीरिक पहलवानो की तरह चलती रहती है।

दो पहलवान जब भिडते हैं तो एक दूसरे को क्रमश पछाडते रहते है। उस वक्त उन शारीरिक पहलवानो के बीच बाहर से दोनो के शरीर जूझते हुए दिखते हैं। दोनो के रोष–खरोश एव शब्दो की ध्वनियॉ कर्ण गोचर होती है। दोनो के शरीर पर घात एव प्रतिघात होता है। पर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यहॉ भी दोनो पहलवानो के अतर मे विद्यमान अपने–अपने बल को अभिमान का युद्ध ही ज्ञात होगा। उस युद्ध मे कोई भी मान स्थायी रूप से पराजय को प्राप्त नही होता, वरन् पराजय जनित ग्लानि उस शत्रुता मे वही काम करती है जो आग मे घी करता है। ऐसी परिस्थिति मे शरीरिक, मानसिक, वाचिक, बौद्धिक एव आत्मीय शक्तियो का कितना ह्रास होता है । कितनी विपन्नता आती है । कितने कर्मबधन होते है । दुरध्यवसायो के परिणामस्वरूप समग्र जीवनीय शक्ति ह्रासोन्मुख हो जाती है। इन सभी वृत्तियो के बीच रहने वाला चैतन्य देव अनेक जन्मो मे सदअनुष्ठानो से प्राप्त आत्म–शुद्धि, शक्ति एव पुण्य प्रवाह को विनष्ट कर "धूरमोची के धूरमोची" की

कहावत को चरितार्थ करता है।

इस दुर्दांत शत्रु को पराजित करने के लिए उपर्युक्त प्रकार का वर्तन–व्यवहार काम नही आता। इसको पराजित करने के लिए आवश्यक है कि चैतन्य देव जाग्रत होकर उसकी पराधीनता से ऊपर उठे एव समीक्षण दृष्टि का प्रकाश इस पर डाले। तभी यह दुर्दांत मान रूपी शत्रु पलायन कर सकता है, जैसे गहनतम अधकार, प्रकाश के आने पर विलुप्त हो जाता है। समीक्षण दृष्टि के तीव्र प्रकाशोदय होने पर मान सबधी वृत्तियॉ एव इसके सहयोगी क्रोध से सबध वृत्तियॉ, जो अधकार के सदृश हैं, समीक्षण दृष्टि की उद्भासमान किरणो से स्वत ही अपने आपको छिपाने लगेगी। इस तथ्य को एक रूपक द्वारा सरलता से समझा जा सकता है।

अधकार किसी विशिष्ट पुरुष के सामने जाकर शिकायत करता है– महानुभाव ! मै बडा ही दु खी हूँ। मेरे दु ख का कोई पार नही है, मुझ पर दया करे। आप जैसे विशिष्ट शक्ति सम्पन्न पुरुष मेरे प्रतिपक्षी शत्रु से मेरा पिड छुडाये एव दु ख मिटाये। आप ऐसा करेगे तो मुझ पर बहुत बडा उपकार होगा। मै कभी आपके अहसान को नहीं भूलूँगा। आशा है, आप तटस्थ भाव से मेरा न्याय करेगे।

विशिष्ट पुरुष ने अधकार से कहा– तुम तो बहुत बलवान् हो, शक्ति सम्पन्न हो, समग्र ससार को व्याप्त करके रहे हुए हो, तुम्हारी जडे बहुत ही गहरी हैं, मजबूत है। तुम्हारा प्रभाव इतना व्यापक है कि तुम मनुष्यो एव अन्य समग्र प्राणी वर्ग के रास्ते ही अवरुद्ध कर देते हो। तुम्हारे सरीखा शक्तिशाली तत्व इस विश्व मे अन्यत्र दृष्टिगत नही होता, तुम्हीं एक ऐसे छायादार वृक्ष हो कि तुम्हारी छाया मे ही चोर चोरी करने मे सफलता पाते है, दुराचारी व्याभिचार मे प्रवृत्त होते हे एव निशाचर जन्तु अपना भोज्य प्राप्त करते है। जुआरी एव दुर्व्यसनी अपने–अपने कार्य मे कामयाब बनते हैं। इसी प्रकार के अन्य प्राणी रात्रि के राजा तुम्हारे आने पर बडी खुशी मनाते हैं। कि बहुना, इस प्रकार के जितने भी प्राणी हैं, वे तुम्हारी राह देखते हैं, तुम्हारे आने पर

प्रसन्नता अनुभव करते है। फिर तुम्हे डरने की क्या आवश्यकता है ? तुम तो स्वय ही इतने विकराल हो कि जिससे उपर्युक्त अनुचर प्राणियो के अतिरिक्त जितने प्राणी हैं, वे सब तुम्हारे आने पर सहम जाते हैं, दरवाजे बद कर अदर की साकल लगा ऑख बद कर लेते हैं। अपना सारा कार्य–व्यापार बद कर लेते है। ऐसी परिस्थिति मे तुमको इस ससार मे कौन दु ख देने वाला है ? तुम्हे कही भ्राति तो नही हो रही है, जिससे तुम दु खित होकर मेरे समक्ष फरियाद कर रहे हो ?

तब अधकार ने कहा– भगवन् ! मुझे भ्राति नही और न निष्कारण पीडित होकर मै आपसे निवेदन कर रहा हूँ। आपने मेरे विषय मे जो कुछ भी कहा वह सर्वथा सत्य है। पर मुझे दु खी करने वाले जगत् के प्राणियो मे से कोई नही। मुझे पीडित करने वाला, प्रताडना देने वाला यदि कोई शत्रु है तो वह सूर्य का प्रकाश है। सूर्य तो दूर रहता है किन्तु उसका प्रकाश इतना भयकर है कि मुझे अनादि काल से सताता आ रहा है। अब तक जैसे–तैसे सहन करता रहा, परन्तु अब सहन–शक्ति का बाध टूट गया है। कि कर्तव्य विमूढ होकर आपके श्री चरणो मे निवेदन कर रहा हूँ। मेरे निवेदन पर ध्यान देकर मेरा सकट टाले यही विनम्र प्रार्थना है। आपके सिवाय मेरा कोई अन्य सहारा नही।

उस विशिष्ट पुरुष ने कहा– चिता मत करो, मै इसाफ दूँगा। पर निर्णय देने के पूर्व मुझे उभय पक्ष की बात सुननी पडेगी। तुम्हारी बात मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ। तदनतर उसने प्रकाश को बुलाया और उससे कहा– भाई, बेचारे अधकार को कष्ट क्यो देता है ? वह बडा दु खी है, तुम्हारे कष्ट से ऊब गया है। पीडित होकर मेरे पास आया, उसने तुम्हारे विषय मे बहुत कुछ कहा एव अपना सकट टालने के लिए कहा है। मैने कोई निर्णय तो नही किया, पर उसे आश्वासन दिया है कि तुम्हारी बात सुन करके ही निर्णय दे सकूँगा वह सतुष्ट होकर चला गया। अब तुम बताओ कि निरपराध अधकार को क्यो कष्ट देते हो ? इससे तुम्हे किस अर्थ की उपलब्धि होती है ?

प्रकाश ने कहा– भगवन् ! मैं तो अधकार को जानता ही नही, न मुझ उसकी पहचान है। मेरा उससे मिलन ही कभी नही हुआ है। जब मेरा मिलन ही नही हुआ, पहचान ही नहीं है तो कष्ट देने का कैसे प्रसग आ सकता है ? उसने मेरे सबध मे क्यो और क्या कहा यह मेरी समझ मे नही आता है। अत मै क्या उत्तर दूँ ? हॉ, एक निवेदन अवश्यमेव है कि उसको मै एक बार देख लूँ तो पहचान हो जायेगी तथा उसी समय, आपके समक्ष ही मै पूछ लूँ कि मैने उसे क्या कष्ट दिया है। इससे आपको निर्णय देने मे अधिक सुविधा रहेगी।

विशिष्ट पुरुष ने कहा– तुम्हारा यह निवेदन योग्य है, ऐसा ही होना चाहिए। तुम बैठो, मैं उसे बुलाता हूँ।

विशिष्ट पुरुष ने अधकार को बुलाने के लिए सूचना करवायी कि तुमने जो शिकायत की उस विषय मे मै निर्णय देने चाहता हूँ। तुम जल्दी आओ। प्रकाश यहॉ उपस्थित है। वह कहता है कि मैने उसे क्या व्यथा–वेदना दी, इसका स्पष्टीकरण मेरे समक्ष हो जाए। वस्तुत मै ने कष्ट दिया हो तो मै क्षमा याचना के लिए तैयार हूँ, जो भी दण्ड मिले उसे भी सहर्ष स्वीकार करने को तत्पर हूँ। प्रकाश कह रहा है– मै अधकार को जानता ही नही। अतएव आप अति शीघ्र आइए जिससे कि सत्य का निर्णय हो जाए और आपका दु ख समाप्त हो जाए।

इस प्रकार विशिष्ट पुरुष के अभिप्राय को श्रवण कर अधकार ने कहा– मैं उसके रहते आ नही सकता।

इस सूत्र को पाकर विशिष्ट पुरुष ने पुन पुन आने का आग्रह किया पर उसका एक ही प्रत्युतर था कि मेरा प्रकाश के सामने आना तो दूर रहा, मै उसको देख ही नही सकता, तो फिर आपके समक्ष मिलना तो असम्भव ही है।

इतना उत्तर आने पर विशिष्ट पुरुष ने यह निश्चय कर लिया कि दु ख की बात सर्वथा निराधार है। यदि उसका मिलन हुआ होता तो इस समय भी वह अवश्य आता। परन्तु वह कह रहा है कि साक्षात् मिलन त्रिकाल मे भी सभव नही है। तो फिर दु ख देने का तो प्रसग

ही नही आता।

यही अवस्था समीक्षण दृष्टि की, मान के साथी एव उसके परिवार की है।

समीक्षण दृष्टि रूप समता–प्रकाश के उपस्थित होने पर अधकार के तुल्य मान एव उसके सहयोगी टिक नही सकते। समीक्षण दृष्टि के साथ सत्पुरुषार्थ करने एव मान के विपरीत स्वरूप विनम्र भाव को स्थायी रूप से अभिव्यक्त करने पर उसकी सत्ता ही निष्प्राण–सी हो जाती है। अतएव दुर्दात शत्रु को पराजित करने का सफल प्रयोग समीक्षण दृष्टिपूर्वक सत्–पुरुषार्थ करना ही है।

मान का विष वृक्ष

विष–वृक्ष अनेक प्रकार के होते हैं, यथा– अफीम, आक, धतूरा आदि। ये विष–वृक्ष तो सहज ही अभिव्यक्ति मे आ जाते है किन्तु कई ऐसे विष–वृक्ष होते हैं कि जिनका ऊपरी हिस्सा तो मनोहर और ललित लगता है किन्तु प्ररिणाम उनका प्रतिकूल होता है। ऐसे विष–वृक्ष की तुलना मान से की जा सकती है। मान रूपी कर्म–स्कंधो के उदय होने पर व्यक्ति को कुछ अच्छापन महसूस होता है। वह सोचता है कि मैं अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा अच्छा हूँ, उन्नत हूँ, मेरे सदृश कोई सुष्ठु शरीर वाला नही है। विद्वत्ता मे मेरे समक्ष कोई टिक नहीं सकता। तप मे कोई मेरी बराबरी नही कर सकता, मेरी सूझबूझ के तुल्य अन्य किसी की सूझ–बूझ नही है इत्यादि अनेक विषयो मे उस व्यक्ति की अभिमानवृत्ति एकागी बन जाती है। दूसरे की तरफ उसकी दृष्टि पहुँच ही नही पाती। अपने आपके भीतर ही वह उत्कर्ष देखता है। जिन विशिष्टताओ को लेकर वह अन्य के मुकाबले मे कुछ भी नही, उनके विषय मे भी वह अपने को दूसरो से विशिष्ट समझता है। अभिमान रूपी विष के परिणामस्वरूप अन्य को यथार्थ रूप मे देख नही पाता। मध्यस्थभाव रख स्व–पर की तुलना करने मे समर्थ नही रहता। वह विपमभाव के विष रस का पान करने मे निमग्न रहता है।

सम–रस को समुत्पन्न करने वाली ग्रथियो का सकोच, सिकुडाव

होता है, जिससे सम–रस की न्यूनता होने लगती है और अभिमान रूपी विषम–भाव के विषरस का प्राबल्य छाने लगता है। इससे रक्त मे कुछ गाढापन आने लगता है, कोशिकाओ मे रक्तसचरण का कार्य कम होने की स्थिति उपस्थित होने से कई कोशिकाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। यथास्थान रक्त का सचरण सम्यक्तया नहीं हो पाने से उन अवयवो, कोशिकाओ मे अन्य घातक तत्त्व पनपने लगते हैं। शनै–शनै उनकी जड जम जाती हैं। तब उनका एकदम आक्रमण होता है। प्रतिकार की शक्ति क्षीण हो जाने से समग्र शरीर रोगमय बन जाता है। यह घातक परिणाम पूर्व मे ज्ञात नहीं हो पाता, किन्तु आगे चलकर इस अभिमान रूपी विष वक्ष के विषफलो का भयकर दुष्परिणाम सामने आता है।

अभिमानी का अनादर एवं दुर्गति

अभिमानी व्यक्ति अभिमान के वशीभूत होकर अभिमान का सपोषण करता हुआ वाणी का प्रयोग करता है। फलस्वरूप अन्य व्यक्तियो के मन मे हीन भावो का प्रादुर्भाव होता है। साथ ही अभिमान करने वाले पुरुष के प्रति जो सद्भावनाएँ होती है, वह भी नही रह पाती। वह सोचने लगते है कि यह व्यक्ति मानव जीवन के अनुरूप मानवता भी नही रखता है। ऐसे व्यक्ति से वार्तालाप करना सर्वथा अयोग्य है, क्योकि ऐसा पुरुष अभिमान के सपोषक पदार्थो का ही प्रयोक्ता बनेगा जिनमे सत्य का अभाव सा रहेगा। यदि सत्य हो तो वह भी धूमिल बन जाएगा। अतएव इससे अधिक न बोलना ही लाभप्रद एव श्रेष्ठ है। ऐसा सोचकर अभिमानी व्यक्ति का वह भी अनादर करने मे तत्पर बन जाता है। कभी कोई अन्य व्यक्ति वस्तुस्वरूप का कथन करता है, अभिमानी व्यक्ति उस कथन को श्रवण करना कम पसद करता है या पसद ही नही करता। वह उसी कथन को मुख्यतया प्रदान करता है जिसमे उसके अभिमान का पोषण हो। वह वस्तुस्वरूप के कथनकर्ता के वचनो को महत्व नही देता, बल्कि उसका तिरस्कार करने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से समझकर पुरुष उसके सामने सत्य कथन नहीं करेगा। अभिमानी पुरुष वस्तुस्वरूप

के अभाव मे अज्ञानता का मुख्य रूप से पोषण करने लगता है। वह विवेकी पुरुषो की नजरो से गिर जाता है। अभिमानी व्यक्ति के नेत्रो से भी अभिमान के भाव अभिव्यक्त होने लगते है। नेत्रो के विज्ञान को जानने वाले पुरुष उस व्यक्ति के नेत्रो से उसकी वृत्ति को जान लेते हैं। उस अभिमान की वृत्ति को जानकर उसके प्रति आदर की भावना नही रखते। अभिमानी पुरुष अभिमान रूपी मिष्ट जहर के कारण विनयधर्म को विनष्ट सा कर देता है। परिणामस्वरूप उसमे नम्रता का गुण अभिव्यक्त नही होता। इस गुण के अभाव मे वह गुणी व्यक्तियो का विनय नही करेगा, जिससे जन–जन की दृष्टि मे गिरा हुआ ज्ञात होगा। नम्रता गुणो के परिणामस्वरूप उपलब्ध होती है। अभिमानयुक्त वृत्ति से उसकी उपलब्धि भी रुक जायेगी। यह भी उसके लिए अपूरणीय क्षति होगी।

अभिमानी व्यक्ति से न तो सही तरह का व्यापार ही होगा और न वह योग्य "सर्विस" ही कर पायेगा। अन्य आर्थिक क्षेत्रो मे भी प्राय पिछड जायेगा। आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त व्यक्ति दुनिया का आदरपात्र नही बन सकता। ऐसा पुरुष इस वृत्ति के रहते हुए कभी भी, उन्नत पद पर नहीं पहुँच सकेगा। समग्र मान की अवस्था तो दूर रही, पर यत्किचित् मान जो साधारण जनमानस के दृष्टिगोचर नहीं होता, वह भी आध्यात्मिक दृष्टि से उच्चतर स्थिति मे पहुँचने मे रुकावट पैदा करता है, जिससे वह कितनी भी कठोरतम साधना क्यो न करले, पर आध्यात्मिक दृष्टि के सर्वोच्च स्थान को धारण नही कर पाता। बाहुबलीजी के मन मे मानाश विद्यमान रह जाने के परिणामस्वरूप, अरण्य मे अत्यत तीव्र तपश्चरण करने पर भी वे केवलज्ञान की दशा से अछूते रहे। मीठे विष की मात्रा कितनी भी स्वल्प क्यो न हो, किसी न किसी रूप मे उसका प्रभाव पडता ही है।

जब अभिमानी व्यक्ति अभिमान के नशे मे झूमता हो, उस वक्त उसके नीचगोत्र कर्म का बध होता है और उस बध के अनुरूप अन्य वृत्तियाँ घृणा द्वेषादि के रूप मे उभरने लगती है। उसी समय मे कदाचित् आगामी भव का आयुष्यबध हो जाए तो वह दुर्गति का पथिक

बन जाता है। दुर्योधन इस तथ्य का उदाहरण है।

मान-समीक्षण

मान का समीक्षण उसी सूक्ष्म प्रज्ञा से हो सकता है जो प्रज्ञा इतनी पैनी, इतनी तीक्ष्ण बन जाए कि वह उदयगत मान के परिणाम को तथा सत्तागत कर्मस्कधो को भी अवलोकित कर सके। जब उदयगत मान के परिणाम को अवलोकन करने की पैनी बुद्धि तैयार होगी, तब उस पैनी बुद्धि के साथ समता का सबल विशेष कार्यकर होगा। समतामूलक पैनी बुद्धि से किसी भी वस्तु को देखना समीक्षण कहलाता है। यह एक ऐसी तटस्थ दृष्टि है कि जिससे जिस किसी वस्तु के स्वरूप को देखने का अवसर प्राप्त हो उस समय यह समीक्षण दृष्टि किसी भी दीवार मे अटके नही, किन्तु राग–द्वेष की सशक्त दीवारो के मध्य मे से अछूती गुजरती हुई भीतर मे प्रवेश कर जाए। कार्य रूप उदयगत मान का समीक्षण करती हुई वह प्रज्ञा कारण रूप मान के कर्मस्कधो को सत्तागत रूप मे भी अवलोकित कर पायेगी। पर वह वही पर नही अटकेगी। वह उन स्कधो की कारणभूत चित्त वृत्तियो को भी जान पायेगी। हॉ, उन तक पहुँचने के लिए इस दृष्टि का अधिक तीक्ष्ण होना अत्यावश्यक है। उस तीक्ष्णता के उपलब्ध होने पर मान से सबधित समग्र परिवार का वह समीक्षण दृष्टि यथावत् अवलोकन करने लगेगी। उनका समग्र परिवार अवलोकित होने पर उनके प्रति जो राग या द्वेष रूप आकर्षण था, लगाव था वह दूर हो जाएगा, टूट जायेगा। सत्कारात्मक आकर्षक के टूटने से मान अत्यत हेय रूप मे साधक को ज्ञात होने लगेगा और उसका सपरित्याग सहज बन जाएगा। जब तक इस प्रकार की प्रक्रिया नहीं बनेगी तब तक मान की निवृति नही होगी, यह विषवृक्ष किसी न किसी रूप मे आत्मा को सत्रास उत्पन्न करता ही रहेगा। अतएव साधक को चाहिए कि राग–द्वेष रूपी दोनो तटो से अपनी बुद्धि को विलग करले एव समीक्षण दृष्टि के रूप मे परिणत कर दे। तभी मान सबधित समग्र क्षतियो से बचाव हो सकेगा। तब जीवन के अत स्रोत तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त बन जायेगा। अतएव सर्वप्रथम मान–समीक्षण मे समीक्षणदृष्टि

का प्रयोग विधिपूर्वक किया गया तो इस विषयक सफलता– श्री साधक के चरण चूमने लगेगी। पर इस समीक्षण को सफल बनाने के लिए सबसे पहले मान सहिष्णुता का प्रयोग अति आवश्यक होगा।

वैयक्तिक सहिष्णुता

पुरुष (चैतन्य देव) पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से सप्राप्त सुदर्शन शारीरिक पिण्ड का सदा अवलोकन कर प्रसन्नता का अनुभव करता है। उसको सपुष्ट बनाने के लिए विविध प्रकार के पोषक तत्वो का सेवन करता है। साथ ही अधिक सुष्ठुता प्राप्त करने के लिए बाह्य वस्तुओ का भी उपयोग करता है। आकर्षक वेषभूषा एव रहन–सहन सबधी ललित मनोहर, मनमोहक परिवेश सग्रहीत करने मे सलग्न रहता है। वह सोचता है कि इससे मेरा व्यक्तित्व निखरे। मै समाज मे सर्वश्रेष्ठ होऊँ। मेरी आज्ञानुसार परिवार वर्तन करे। मुझे सर्वाधिक आदर–सत्कार–सम्मान प्रदान करे। इस भावना से अपने व्यक्तित्व को बढाने की कोशिश करता है पर वह यह नही सोच पाता कि व्यक्तित्व को निखारने के ये सभी सयोग समर्थ साधनभूत नही है। व्यक्तित्व को निखारने के लिए मुझे वास्तविक हेतुओ को जानना एव सविज्ञानपूर्वक आचरण मे लाना है। यह चितन तभी बन सकता है जब कि वह व्यक्ति सबधी मानसहिष्णु बने। व्यक्ति–सबधी मान सहिष्णुता का कार्य–कारण के रूप मे समीक्षण दृष्टि से अवलोकन करे।

इस विषय मे समीक्षण दृष्टि जब सक्रिय होगी तब चैतन्य देव के सोचने, समझने के आयाम बदल जायेगे। वह बाह्य पदार्थो को व्यक्तित्व को निखारने का साधन न मान कर भीतरी साधनो को प्रमुखता देगा। वह यह अवलोकित करेगा कि वह शरीरपिण्ड ही व्यक्तित्व का स्वरूप नही है। यह तो प्रत्येक आत्मा को स्वकर्मानुसार समुपलब्ध होता है। किन्तु प्रत्येक आत्मा इस तथ्य से पूरी अवगत नही हो पाती। जब चेतन्य देव समीक्षण दृष्टि से समावलोकित करने लगेगा तब उसको व्यक्तित्व के निखार का सही स्वरूप विदित हो पायेगा। चैतन्य देव यह भलीभॉति जान पायेगा कि शरीर पिण्ड

आतरिक वृत्तियो का परिणाम है। जिस प्रकार की पूर्व मे वृत्तियॉ रहीं उन्ही के अनुरूप कर्मस्कधो का सचय हुआ। उन्ही कर्मस्कधो के उदयगत परिणाम शरीरादि हैं। अतएव शरीर की निर्मिति शरीर के अधीन नही, अपितु शरीर की सूक्ष्म वृत्तियो पर आधारित है और वे वृत्तियॉ भी स्वतत्र नही, चैतन्य देव की अधीनता मे रहने वाली हैं। चैतन्य देव जब तक स्थूल दृष्टि पर लगाव वाली बुद्धि से काम लेता है तब तक समबुद्धि वाला नहीं बनता। अतएव जो जिसका कारण नहीं है उसको कारण मान बैठता है। जो जिसका स्वरूप नही है उसे उसका स्वरूप मान लेता है। जब उसकी बुद्धि मे समरसता जागृत होगी तब वह समीक्षण दृष्टि से सम्पन्न होने लगेगा और उसी सम्पन्नता से वह वास्तविक व्यक्तित्व निखार के कारणो का सविज्ञाता बन पायेगा। उस जानकारी मे व्यक्तित्व का मूलाधार जीव है। वह चैतन्य देव व्यक्तित्व को परिष्कृत करने के लिए अपनी वृत्तियो मे सहिष्णुता रूप वृत्ति का प्रादुर्भाव करेगा। और यह देखना कि मै जिनके ऊपर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालना चाहता हूँ वह प्रभाव शारीरिक साज–सज्जा से नही होगा किन्तु समरसता पूर्वक उन व्यक्तियो की सुख–सुविधाओ का ध्यान रखने पर होगा। मैं अपने लिए जिन सुख–साधनो की अनिवार्यता अनुभव करता हूँ, उसी प्रकार वे भी अपने अस्तित्व को टिकाये रखने के लिए अनिवार्य आवश्यक वस्तुओ की चाह रखते हैं। अतएव मेरा कर्तव्य है कि उन अनिवार्य आवश्यक साधनो की पूर्ति हेतु जो साधन सामग्री है उसके सविभाग का मै ख्याल रखूँ। मैं लघु जनो से प्यार करूँ, गुरु–वृद्धजनो के चरणो मे विनम्र होकर रहूँ। किसी भी सदस्य की सेवा मे जरा भी प्रमाद न करूँ। वे मेरी सेवा करे, तब मैं करूँ, ऐसी भावना मेरे मन–मस्तिष्क मे लेशमात्र भी न उभर पाए। किसी से कदाचित् कोई त्रुटि हो जाए तो उस त्रुटि का परिमार्जन करने के लिए मधुर स्वर के साथ सुझाव दूँ, निवेदन करूँ, सभी की आवश्यकताओ की सम्पूर्ति मे योगदान देता रहूँ। इस प्रकार की आतरिक वृत्तियॉ मन–वचन–काया के रूप मे परिणत होने पर भी किसी पर अहसान न जतलाऊँ। यह भी विचार न आने दूँ, कि में ऐसा कार्य करने वाला हूँ। अपने स्वार्थ को गौण कर

अन्य के हित का कार्य कर रहा हूँ। प्रशसा या ख्याति की लालसा–आकाक्षा न रखूँ। कोई कितनी भी मेरी प्रशसा करे उससे जरा भी अह को जागृत न होने दूँ, हृदय मे भी उसे न पनपने दूँ। मेरे समक्ष अनेक व्यक्ति आएँ और कहे कि हमने यह कार्य किया, वह किया आदि और ऐसा कथन करते हुए स्वकीय अह को प्रदर्शित करे। उस समय भी मन मे वस्तुस्वरूप का ज्ञान रखते हुए उन अभिमानियो का तिरस्कार न कर सहिष्णुता का अवलम्बन लूँ। ऐसे प्रसगो का न समर्थन हो, न उनके प्रति घृणा हो, न विद्वेष ही जगे। इस प्रकार की सहिष्णुता जीवन के कण–कण मे व्याप्त हो जाए और साथ ही अन्य धार्मिक सद्‌गुणो का भी जीवन मे प्रवेश हो। यथाशक्ति कथनी करनी मे एकरूपता स्थापित हो जाए। इन्ही गुणो से व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्मित होता है।

शरीर पहले रूपवान हो या विरूप हो, वर्ण कृष्ण हो या गौर, वस्त्र सादे–मोटे हो या भडकीले, सम्मान हो या तिरस्कार, सभी अवस्थाओ मे समभावना की अवस्था अभिव्यक्त होने लगे। सत्कार सम्मान मे अभिमान की झलक तो दूर रही, भावो मे भी अभिमानाकुर स्फुटित न हो पाए, तिरस्कार से हीन भावना भी न पनपने पाए। तभी व्यक्ति का वास्तविक व्यक्तित्व निखर सकता है। ऐसा व्यक्तित्व निखरने पर भी अहकार से दूर रहना मान–सहिष्णुता का सूचक बन सकता है। इस प्रकार की वृत्तियाँ ही चैतन्य देव को व्यक्ति–सहिष्णुता की सज्ञा मे खडा कर सकती है।

इस प्रकार का व्यक्तित्व उसी पुरुष मे पल्लवित–पुष्पित होता है जिसकी प्रज्ञा समीक्षण दृष्टि से सम्पन्न हो गयी हो। अतएव जिस पुरुष को मान–सहिष्णु होने रूप व्यक्तित्व का निर्माण करना हो उसे समीक्षण दृष्टि की साधना अवश्यमेव करनी चाहिए, जिससे मान से सबधित तनाव आदि अवस्थाओ का प्रादुर्भाव न हो पाए।

पारिवारिक मानसहिष्णुता

मानसहिष्णुता गुण से सम्पन्न पुरुष का पारिवारिक सदस्य

समादर करे अथवा न करे, उसकी आज्ञा की पालना करे या नही करे, वह इसकी चिता नहीं करता। ऐसी अवस्थाओ मे सामान्य जन हर्षविषाद की तरगो मे बह जाता है। अनादर एव आज्ञोल्लघन की स्थिति मे उसका अहकार स्वाभाविक रूप से फुफकार मार सकता है और वह कह सकता है कि मै तुम लोगो का इतना हित करता हूँ, समग्र परिवार का भरण–पोषण, सरक्षण करता हूँ, तुम्हारे लिए समग्र जीवन समर्पित करके चल रहा हूँ। मुझे आदर–सत्कार देना तो दूर रहा किन्तु तुम, सबके हित की जो आज्ञा देता हूँ, उस पर भी ध्यान नहीं देते । मैं अब तुम्हारा काम नहीं करूँगा, इत्यादि अनेक बाते असहिष्णु व्यक्ति बोल सकता है। परन्तु जिसने समीक्षण दृष्टि से मान के परिणाम को जान व देख लिया है वह पुरुष मान को उद्वेलित, उत्तेजित करने सबधी विचारो को सहन कर सकता है। वह मानसहिष्णुता का आदर्श उपस्थित करता हुआ, परिजनो को उसी निरभिमान, विनीत व विनम्र वाणी मे कहेगा– साथियो ! मुझे जिसमे परिवार के लिए हित लगा वैसा कहा। आप लोग भी सुज्ञ हैं, आप को मेरा कथन हितकर प्रतीत न होता हो तो कोई बात नही। सबके हित की अन्य कोई बात हो तो आप बतलाएँ। मैं भी उसे जीवन मे उतारने का प्रयास करूँगा। मुझे अपनी बात का कोई आग्रह नहीं है और न ही मुझे आज्ञा प्रदान करने का शोक है। केवल कर्तव्यपालना की दृष्टि से जिसमे मुझे हित लगा वह कहा, पर सम्भव है कि मेरे चितन का दोष मुझे ज्ञात न हो। दीपक अन्य को तो प्रकाशित करता है परन्तु उसके तल मे अधेरा रहता है। हो सकता है कि वह स्थिति मेरी भी हो। आप लोगो को कोई त्रुटि या भूल ज्ञात हो ता बतलाएँ। कोई सशोधन हो तो दे। मै उसको सहर्ष स्वीकार करने को तत्पर हूँ। हम सबका उद्देश्य एक ही है कि परिवार मे सुख–शाति और अमन–चैन रहे। अपन सभी यथा शक्ति नैतिकता के साथ उन्नति–पथ पर अग्रसर बने। इस प्रकार मान–सहिष्णु व्यक्ति का कथन परिवार के सभी सभ्यो को आकर्षित करने वाला बन सकता है। सम्भव है, कदाचित् तत्क्षण परिवार के सभ्यो को उसका कोई कथन समझ मे न आवे, वे उसके अनुरूप कार्य

न करे, फिर भी मानसहिष्णु, पुरुष यह नही सोचता है कि इन लोगो ने मेरी हितकारी बात भी नही मानी। ये कुछ भी समझते नही है, अज्ञान से आवृत हैं। मै इसकी बात को कैसे मान सकता हूँ। ऐसा न सोचते हुए वह यही कहेगा– "बहुत अच्छा, आप लोगो ने सोच समझ कर जो उपाय बतलाया है, उसे अपन सभी तन्मयतापूर्वक आचरण मे लाये।' ऐसा कहकर वह उसी प्रकार उनके सुझाव को क्रियान्विति देने लगता है। अपने सुझाये हुए मार्ग को अस्वीकृत करके अयोग्य सुझाव से कार्य करने पर जब कुछ ठोकर लगती है तब परिवार के वे सदस्यगण स्वय पश्चाताप करने लगते हैं और उसकी बात को याद करके कहते हैं कि– "हमारी भूल हुई। हमने आपकी अवज्ञा की। आपकी आज्ञा शिरोधार्य नही की। इसीलिए ठोकर खानी पडी। हम अल्पज्ञ है, अनुभव विहीन हैं, आपके समान दीर्घ दृष्टि से सोच नही पाए। अब हम अच्छी तरह से समझ पाये हैं कि आप का चितन ही श्रेयस्कर था। अब आप ही इस बिगडे कार्य को सुधारने का प्रयत्न करे। हम आगे ऐसा नही करेगे। अपनी अज्ञता को हम समझ चुके है। इस प्रकार उनका कथन श्रवण करके भी मानसहिष्णु, पुरुष यह नही कहता कि– "अब मै क्या करूँ, अपना किया आप भोगो।" इस प्रकार पूर्व की बात उठाकर उन्हे लज्जित न करता हुआ वह कहता है कि– "घबराएँ नही। यह भी एक प्रयोग था। प्रयोग से भी अपन सबको शिक्षण मिला। अत जो कुछ हुआ सो अच्छा ही हुआ। अब हमे ऐसा नही, ऐसा करना है।" ऐसा कहकर वह उनके पश्चाताप को भी शमित करता है और प्रकारातर से भी यह महसूस नही होने देता कि तुम लोग कुछ भी नही जानते हो।

ऐसा पुरुष ही अपने व्यक्तित्व को मानसहिष्णुता के रूप मे निखार सकता है। सुना गया है कि स्वतत्रता आन्दोलन के समय अखिल भारतवर्षीय राष्ट्रीय काग्रेस–सघ विराट् रूप मे चल रहा था। आदोलन के समय मे सभी वर्गो के गणमान्य व्यक्ति उसमे सम्मिलित थे। सभा मे अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए जाते। गाधीजी ने एक बार दीर्घदृष्टि से विचार कर एक प्रस्ताव रखा। उस प्रस्ताव का अभिप्राय अन्य प्रमुख सभासद् भी समझ नही पाए और उसे अस्वीकार करते हुए

कहने लगे– बापू, ऐसा प्रस्ताव तो हम स्वीकार नही कर सकते। अस्वीकृति श्रवण कर गाधीजी क्षुब्ध नही हुए। वे उनके अदूरदर्शिता पूर्ण प्रस्ताव को भी सहर्ष स्वीकारते हुए उसकी क्रियान्विति मे अग्रगण्य रहे। ऐसा प्रस्ताव क्यो पारित कर रहे हो, मै इसमे न सम्मिलित होऊँगा, न सहयोग दूँगा, उन्होने न ऐसा कथन किया न खिन्नता ही प्रदर्शित की। परन्तु कधे से कधा मिलाते हुए चलने लगे। आगे जाकर ठोकर लगी कागेस को। तब सभी गाधीजी का स्मरण करने लगे। उनकी दीर्घदृष्टि की भूरि–भूरि प्रशसा होने लगी। सारा वातावरण प्रशसा के रूप मे बदल गया। उसमे भी गाधीजी के मुँह से कोई अहकारपूर्ण शब्द नि सृत नहीं हुआ। साधारणतया ऐसा समादर प्राप्त होने पर अहभाव की अभिव्यक्ति सहज स्वाभाविक रूप से हो जाया करती है। किन्तु गाधीजी ने मानसहिष्णुता का आदर्श समुपस्थित किया। यदि सूक्ष्मता से अन्वेषण करे तो ज्ञात होगा कि इसके अतरग मे गाधीजी ने प्रभु महावीर द्वारा उपदिष्ट अहिसा, सत्य, अपरिग्रह और स्याद्वाद के स्वरूप को समझा था और इन सिद्धातो का यथास्थान उपयोग करने की कला भी समझी थी। इसका बीजवपन उनकी प्रथम विदेश यात्रा के समय जैन सत श्री बेचरजी स्वामी के द्वारा हुआ और युगद्रष्टा, युगपुरुष आचार्य श्री जवाहरलालजी म सा के प्रसग से उसे विशेष सबल मिला, ऐसा कुछ लग रहा है।

मान की अवमानना

समीचीन ज्ञान के प्राप्त होने पर विकास का द्वार खुलता है, परन्तु ज्ञान से सबधित मान की अवमानना होने पर ही यह सम्भव है। वह अवमानना तभी सभव है जब हम अपनी ज्ञानशक्ति से अधिक ज्ञानी का समादर करे। चितन करे कि मेरे पास अभी स्वल्प ज्ञान है, मुझसे अधिक अनेक ज्ञानी इस धरा पर विद्यमान हैं। भूत काल मे अनेको ज्ञानी–आप्त पुरुष हो गये है जिनका ज्ञान चरम सीमा को सस्पर्श करने वाला था। वर्तमान मे ऐसे विशिष्ट पुरुष विद्यमान हैं और भविष्य मे भी उनकी विद्यमानता रहेगी।

मैं भी अपने सत्पुरुषार्थ के माध्यम से ज्ञान–ज्योति को अधिकाधिक प्रकट करूँ। ऐसा तभी सभव है जब कि मैं अपने स्वल्प ज्ञान से सबधित मान को सत्कार न दूँ। जब ज्ञान से सबधित मान का प्रादुर्भाव होने लगे उस वक्त मै उसकी उपेक्षा कर दूँ। उसकी उपेक्षा करना भी मान की अवमानना करना है। ऐसा नही करने पर ज्ञान सबधी विकास के द्वार बद होगे, परिमाणस्वरूप स्वल्प ज्ञान मे ही जीवनी शक्ति को समाप्त करने का अवसर प्राप्त हो जायेगा। विशाल और विराट् ज्ञान अवज्ञा होगी। मै उससे वचित रह जाऊँगा। उसकी उपेक्षा से ज्ञानावरणीय कर्म प्रगाढ बनेगे जिससे विराट् व्यापक ज्ञानशक्ति की आसातना होगी। उस आसातना का परिणाम भी बहुत दूरगामी होगा। मेरा स्वल्प ज्ञान भी अज्ञान की श्रेणी मे परिणत हो जायेगा। फलत इन्द्रिय विषयो को प्रश्रय मिलेगा। उनको प्रश्रय मिलना जीवन को अधकारमय बनाना है। अनत जन्मो तक पुन सम्यग्ज्ञान–ज्योति की उपलब्धि दुष्कर बन जायेगी। अतएव मुझे ज्ञान का गर्व कर मान सबधी कूडे–करकट को पनपने नही देना है। भले ही वर्तमान मे मेरा ज्ञान अन्य साथियो की अपेक्षा अधिक चढा–बढा हो, पर है वह स्वल्प ही। ज्ञान की भी चरम सीमा अमुक बिन्दु पर प्राप्त होती है। उस चरम सीमा को प्राप्त ज्ञान ही सर्वोपरि ज्ञान होगा। इस स्वल्प ज्ञान से प्रत्यक्ष मे भी मैं सूक्ष्म तत्त्व का अवलोकन नहीं कर पाता, किन्तु अनुमान का सहारा लेना पडता है। अनुमान भी कभी–कभी हेतु की कमजोरी से अस्पष्ट रह सकता है। किन्तु उसके सहारे, अर्थात् निश्चयात्मक अनुमान से सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के स्वरूप को समझा जा सकता है। निश्चित अनुमान के जनक वे हेतु प्रत्यक्ष दृष्टिगत हो रहे है। यथा– मानव–मानव मे शारीरिक बनावट की समता होने पर भी बौद्धिक समानता नही पायी जाती, बल्कि बौद्धिक तरतमता युक्त उपलब्ध होती है। कई पुरुष समान साधनो से सम्पन्न होकर भी ज्ञान के क्षेत्र मे समान नही पाए जाते हे। एक ही कक्षा के विद्यार्थी सम अध्ययन करने पर भी सम अको से उत्तीर्ण नही होते। उनकी उत्तीर्णता विविध रूपो मे दृष्टिगत होती हे। एक विद्यार्थी प्रथम श्रेणी मे "फर्स्ट पोजिशन"

प्राप्त करता है। दूसरा विद्यार्थी द्वितीय श्रेणी मे भी पर्याप्त अक नहीं ला पाता। थोडे–से नम्बरो से द्वितीय श्रेणी को प्राप्त होता है। तृतीय श्रेणी वालो मे भी विविध प्रकार की तर–तम योग्यता होती है। वैसे ही प्रथम व द्वितीय श्रेणी मे भी अनेक प्रकार की योग्यताएँ भिन्न–भिन्न रूप मे उपलब्ध होती है। इससे आगे की ओर दृष्टिपात किया जाए तो अध्यापक वर्ग मे भी सम अको से उत्तीर्ण होने एव समान उपाधि प्राप्त होने पर भी कई अध्यापक स्मरणशक्ति मे तीव्र पाये जाते है तो कई स्मरणशक्ति मे हीन। उनमे कई अनुभूति से विशेष ज्ञान की उपलब्धि कर पाते है कई व्यावहारिक ज्ञान से प्राय अनिभज्ञ होते है तो कई व्यावहारिक ज्ञान मे प्रवीण होते है, पर अनुभूति के ज्ञान से वचित। इसी प्रकार अन्यान्य पुरुषो को भी देखा जा सकता है। कई आचरण के ज्ञान से सम्पन्न होते हुए भी उसको जीवन मे स्थान नही दे पाते। कई आचरण ज्ञान की दृष्टि से कमजोर होने पर भी आचरण मे बढे–चढे पाये जाते है। इस प्रकार जगत् मे ज्ञान सबधी विविध तरतमता दृष्टिगोचर होती है। तब सहज ही अनुमान होता है कि जहॉ ज्ञान मे तरतमता है वहॉ परिपूर्णता भी अवश्यभावी है, क्योकि तारतम्य की विश्रान्ति, पराकाष्ठा या परिसमाप्ति परिपूर्णता मे ही पायी जाती है। यथा– जुगनू के प्रकाश की अपेक्षा चिनगारी का प्रकाश अधिक होता है, उससे दीपक का तेज बढा–चढा होता है। दीपक की अपेक्षा न्यून परिधि वाला बल्ब भी विशेष प्रकाश को लिए हुए रहता है। उससे भी मरक्युरी का प्रकाश विस्तृत होता है। आकाश के अदर चमकने वाले तारो का प्रकाश स्वाभाविक होने के साथ–ही–साथ मरक्युरी के प्रकाश की अपेक्षा अधिक बढा हुआ एव विस्तृत होता है। पर उसकी भी रोशनी को परास्त करने वाला चन्द्र का प्रकाश भू–मडल तक प्रसरित हो जाता है। उससे भी अधिक सूर्य का प्रकाश स्वाभाविक तौर से प्रखर होता है। वर्तमान मे आम जनता की दृष्टि मे प्रकाश की परिपूर्णता सूर्य मे समाहित हुई दृष्टिगत होती है। इस परिपूर्णता मे प्रकाश सबधी तारतम्य पुष्ट हेतु है। वैसे ही ज्ञान की तरतमता रूप हेतु से ज्ञान की परिपूर्णता निश्चय ही किसी विशिष्ट पुरुष मे उपलब्ध

होगी। उस ज्ञान की परिपूर्णता अनतानत सूर्यो के प्रकाश से भी अधिक विस्तृत होगी क्योकि उसके साथ अज्ञान का सम्मिश्रण नही होगा। उसकी तुल्यता वाला दृष्टात चर्मचक्षु मे कोई उपलब्ध नही होता, अतएव सूर्य का दृष्टात चर्मचक्षु वालो को समझने मे सुगम होने के कारण दिया गया है। दृष्टात सभी एकदेशीय ही होते हैं। अतएव ज्ञान की ज्योति से सम्पन्न मानव ज्ञान के तारतम्य का समीक्षण करता हुआ परिपूर्णता की ओर देखता रहे, अग्रसर बनता रहे तो ज्ञान सबधी मान का अवमूल्यन सिद्ध हो जाता है। उसके लिए अधिक श्रम की आवश्यकता नही रहती। इस वृत्ति से चलने वाला पुरुष मान–समीक्षण सही तरीके से कर सकता हे। समीक्षण दृष्टि के माध्यम से ही मान रूपी मधुर विष को समाप्त किया जा सकता है। समीक्षणदृष्टि को ज्ञान से सबधित कर अवश्यमेव एक–न–एक दिन अनुत्तर ज्ञान की परिपूर्णता से सम्पन्न बना जा सकता है। उसी सम्पन्नता को शास्त्रकारो ने "केवलज्ञान" के रूप मे निर्दिष्ट किया हे। उस ज्ञान की उपलब्धि करने वाले वीतराग देवो मे तीर्थंकर देव प्रमुख होने से उनका कथन जहॉ होता है वहॉ अन्य सभी केवलियो का समावेश सहज ही हो जाता है। अतएव मान रूपी शत्रु को जीवन से विसर्जन करने की अभिलाषा रखने वाले पुरुष को चाहिए कि तीर्थंकर देव की आसातना से बचे, अर्थात् तीर्थंकर देवो का सत्कार सम्मान करता हुआ उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करे। मान को हेय तत्त्वो के अतर्गत जानता, मानता हुआ उसका सदा अवमूल्यन करता रहे, ताकि उसका अकुर सम्वर्धित न हो पाए।

सद्विचार से मान-समीक्षण

विचार आत्मा की परिणति विशेष

विचार प्रवाह चेतनाशून्य जड तत्त्व का गुण नही है। यह चेतना का विकसित गुण हे। इसका प्रवाह जड तत्त्व से सबधित होकर प्रवाहित होता है। यथा – पानी प्रथम सरल पथ से चलता है। जिधर का भू–भाग पोला, नीचा व कमजोर होता है उधर वह शीघ्र प्रवाहित हो जाता हे। आगे चलकर वडी नदी का रूप धारण कर लेता है। वह

नदी टेढी–मेढी–तिरछी बहती है। उस प्रवाह से कोई सरल सीधी नदी का रूप नही बनता, न ही दूर स्थित पदार्थो को उससे विशेष लाभ पहुँच पाता है। वह पानी कभी कठिन भू–भाग का भी भेदन करके रास्ता बना लेता है। किन्तु उस कठोर भू–भाग मे भी आपेक्षिक कठोरता हो तो ही वह मार्ग बनाता है, पर वह भी अव्यवस्थित अनेक रूपो मे। जिससे साधारण पुरुष यह जान नही पाता कि इसका उद्‌गम या स्रोत–पथ कहाँ है ? यद्यपि पानी का स्वरूप मिट्टी–पत्थर से भिन्न है, और भिन्न स्वभाव मे ही वह टेढा–मेढा, अव्यवस्थित रूप से बहता है। इसी प्रकार विचारो का प्रवाह चैतन्य का स्वभाव है। पर वह चैतन्यभिन्न अचेतना–जड के साथ प्राय बहता है। जड एक रूप नही, विभिन्न और विवर्ण है।

चैतन्य गुण से शून्य होने के कारण जड तत्त्व पोचा है। स्वय की ज्ञानवान् कर्तृत्व शक्ति के अभाव मे अव्यवस्थित है। जिधर भी कोई उसको बहाना चाहे, बहा सकता है। विचारधारा प्राय सुगम स्थान व अधिक परिचय वाले पदार्थो मे अधिक बहती है।

रूपवान् जड तत्त्व चर्मचक्षु मे दृष्टिगत होने वाला तत्त्व है। अरूपी अवशेष चार इन्द्रियो और मन के माध्यम से ग्रहीत किया जाता है। इन्द्रियो के माध्यम से मन जिस जड तत्व के प्रति अधिक आकर्षित है, आसक्ति पूर्वक उसे ग्रहण करना चाहता है। इच्छानुकूल उसको ग्रहण नही कर पाने से विचार सकल्प–विकल्प का रूप ले लेते हैं। राग–द्वेष के खेमो मे काम करने लगते हैं। राग–द्वेषमय वृत्ति के साथ विचारो का प्रवाह जब प्रवहमान होने लगता है, तब विचार भी अव्यवस्थित आढे–टेढे, ऊँचे–नीचे प्रवाहयुक्त हो जाते हैं, जिससे विचार–प्रवाह का स्वरूप व्यवस्थित नही रह पाता।

आढे–टेढे विचारो मे राग–द्वेष की परिणति के कारण दोषो का समुपस्थित होना स्वाभाविक है। उन्हीं विचारो की पकड से जब किसी एकागी विकारी तत्त्व को अभीष्ट मानकर प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है उस समय मान का अधकार उसकी विवेक–दृष्टि को

आच्छादित कर देता है। किन्तु जब सद्‌विचार रूपी सूर्योदय के प्रकाश की किरणे प्रसरित होने की अवस्था मे पहुँचती है, उस समय मान का अधकार पलायन करने लगता है, समीक्षण दृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। उसका उपयोग करने पर जिस वस्तु को अभीष्ट माना था वही वस्तु विकार युक्त दृष्टिगत होने लगती है। जैसे–जैसे सद्‌विचारो के साथ समीक्षण दृष्टि पूर्वक गहनता मे प्रवेश होता जाता है वैसे–वैसे विचारो मे घुले राग–द्वेष का स्वरूप, टेढा–मेढापन दृष्टिगत होता जाता है। जिससे वह राग–द्वेष की दीवारो को यथावत् देखता हुआ असद् विचारो के आढे–टेढे प्रवाह को हटाकर व्यवस्थित रूप प्रदान करता है। अव्यवस्थित विचारो से जो शक्ति क्षीण होती हुई जा रही है। उसका विज्ञान हो जाने से सद्‌विचारो का कलापूर्ण पद्धति से व्यवस्थितीकरण करता हुआ उन्हे एकरूपता का स्वरूप प्रदान करता है, यथा– अस्त–व्यस्त तरीके से बहने वाले जलप्रवाह को विवेक–शील निपुण इजीनियर बाध बनाकर सुनियोजित व व्यवस्थित बनाता है, जिससे जनहिताय विद्युत सिचनादि कई कार्य सम्पन्न होने लगते है। उसी जलप्रवाह का सदुपयोग होने से जैसे जनसमुदाय अधिक लाभान्वित होता है वैसे ही विवेकशील चैतन्य देव सद्‌विचारो के नियोजीकरण से जीवन के प्रत्येक महत्वपूर्ण तत्व का सिचन करता है। परिणामस्वरूप जीवन मे किसी भी निमित्त के कारण उत्पन्न हुआ मान का अकुर मुरझा कर विलय को प्राप्त हो जाता है।

मानविहीन जीवनचर्या से स्वय का जीवन तो सद्‌गुणो से आलोकित होता ही है, साथ ही परिवार, समाज एव राष्ट्र के जीवन मे भी उसका प्रभाव होना स्वाभाविक हे। ऐसे सद्‌विचारवान् पुरुष के सम्पर्क से अन्यो को भी जीवन मे उभरने वाली मान–वृत्तियो को अवमूल्यन करने मे काफी हद तक सफलता प्राप्त होती है। अतएव सद्‌विचारो से मान–समीक्षण करने की कला प्रत्येक पुरुष को सीखनी चाहिए। इसके लिए साधन समीक्षण ध्यान पद्धति है। उसका नियमित, विना अतराल के, सत्कारपूर्वक अभ्यास आवश्यक हे।

मान सवधी कर्म–वर्गणाओ के उदित होने पर उनका असर

अध्यवसायो पर पडता है। अध्यवसाय विचारो के साथ समन्वित होकर मानसतत्र को घेर लेता है। मानसतत्र से सयुक्त रहने वाले जितने भी केन्द्र, उपकेन्द्र है, वे सभी प्रभावित होते है। उस समय अधापन–सा छा जाता है। इसे दूसरे शब्दो मे कहे तो दृष्टि मान के रग से रगीन बन जाती है। परिणामस्वरूप पुरुष प्रत्येक रूप को मान के रग से रगा देखने लगता है। अपने रूप से तुलना करने लगता है कि मैं कैसा रूपवान् हूँ। मेरे रूप की समकक्षता मे किसी का रूप नहीं है, यह सब दृष्टिगत होने वाले रूपविहीन है, नाकुछ हैं, घृणित हैं। इनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नही हो सकता। इनके रूपो को देखने की अपेक्षा नही देखना ही अच्छा हैं। जिस प्रकार रात्रि का राजा उल्लू सूर्य की किरणो को भँवरे के काले पैरो के समान कृष्णवर्ण देखता है। अधकार उसको अच्छा प्रतीत होता है, क्योकि सूर्य के प्रकाश मे उसके नेत्रो की ज्योति काम नहीं करने से वह अधा सा रहता है। वह अधकार को पसद करता है। लगभग यही दशा मानाध पुरुष की बन जाया करती है।

सूर्य की अनुपस्थिति मे रात्रि के अधकार परिपूर्ण रहने से चोर–डकैत, व्यभिचारी आदि पनपने लगते हैं, शिकारी पशु अपने शिकार की खोज मे चल पडते है। मच्छर, खटमलादि क्षुद्र जन्तु भी अधकार मे आक्रमण करना प्रारभ कर देते हैं। इससे कई प्राणियो का विनाश, सम्पत्ति का अपहरण, सदाचार का विलोप, निरपराध प्राणियो का विघात और मच्छरादि के जहर से मलेरिया ज्वर आदि हो जाता है। उससे लीवर खराब हो जाता है, आतरिक यत्र मे अव्यवस्थितता आ जाती है, अनेक रोगो की उत्पत्ति होने लगती है, जो प्राणी वर्ग के लिए घातक सिद्ध होती है। वैसे ही मानाधकार मे भटकने वाला पुरुष जन–जीवन का घातक, सद्गुणो का अपहरणकर्ता, दुराचार का जनक तथा अन्य अनेक प्राणियो को सक्लेश पहुँचाने के साथ ही प्रदूषण का सर्जन करने वाला है। उससे आबालवृद्ध मनुष्य ही नही, अन्य छोटे–मोटे सभी प्राणी भी सक्लेश पाते हैं। मानसिक रोगादि के शिकार बन अशाति का अनुभव करने लगते है। यथा– कपिला दासी

के निमित्त से अभया महाराणी की जो स्थिति बनी वह सक्षिप्त मे इस प्रकार है–

पतिपरायण, धर्मनिष्ठ सतीत्व को धारण करने वाली सेठानी मनोरमा सार्वजनिक उत्सव के प्रसग पर अपने पुत्रो के साथ रथ मे बैठ उत्सव देखने जा रही थी। महारानी का रथ उसके आगे ही चल रहा था। कपिला बैठी थी। सहसा उसकी दृष्टि कात, कमनीय, मनोहर मनोरमा के पुत्रो को देखकर उसी ओर आकर्षित हो गयी। चित्त एकाग्र बन गया। उत्सव का दृश्य विस्मृत हो गया।

अभया महारानी ने पूछा– कपिले ! तुम्हारी दृष्टि वहॉ कैसे टिक गयी ! तब कपिला ने पूछा– यह रथ किसका है ? यह कौन सौभाग्यशालिनी नारी है ? ये पुत्र किसके है ? यह कैसी प्रसन्नता अनुभव कर रही है ? इत्यादि।

महारानी ने कहा– अरी कपिले– तू कैसी विचित्र नारी है ! दुर्भावना से तेरी स्मृति विलुप्त हो गयी है। तू इतनी अनभिज्ञ बन गयी ! यह नारी राजा और प्रजा के बीच सामजस्य रखने वाले, समतापूत नगर श्रेष्ठी की है। पति–व्रता, धर्मपरायण है। इसी के ये पुत्र है। महारानी का कथन कपिला के लिए हास्य का कारण बन गया। ठहाका लगा हॅसती हुई वह कहने लगी– वाह–वाह मेरी स्मृति तो विस्मृत हुई, पर आपकी स्मृति अयथार्थ–असत्य की पोषक है।

अभया ने कहा– कैसे ?

कपिला मनोभावो को छिपाती हुई कहने लगी– रहने दीजिए, इस प्रकरण को समाप्त कीजिए।

महारानी उसका हाथ पकडती हुई कहने लगी– समाप्त केसे करूँ ? मेरी स्मृति अयथार्थ–असत्य की पोषक कैसे है ? अपनी बात सिद्ध कर ?

महारानी की उत्कण्ठा प्रवल देख उसने हास्यरस के साथ कहा– सत्य, कटु हुआ करता है। उस कटुता को आप कैसे पचा

पाएँगी ? स्मृति को चोट पहुँचेगी, अहकार तिलमिला उठेगा।

महारानी ने कहा– नही, तुझे बताना पडेगा।

तब कपिला ने कहा– आप सेठ का गौरवानुभूतिपूर्वक मुझे परिचय दे रही हो और उसकी पत्नी को पतिव्रता बतला रही हो, वह सर्वथा असत्य–अयथार्थ है। इसका पति तो पुरुषत्वहीन है, हीजडा है। उसके पुत्र कैसे हो सकते हैं ?

महारानी ने कहा– तू कैसे कह रही है कि वह पुरुषत्वहीन है। मैं मान नही सकती। तू भ्रमित है।

कपिला ने अपने अह का पोषण करते हुए घटित वृत्तात बतलाया और कहा– उसने स्वय ने ही अपने को पुरुषत्व हीन स्वीकार किया, मुझे छोड चला गया। यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है।

महारानी ने मुस्कान के साथ कहा– कपिले। तू नारीकला मे निपुण नही है। सेठ सदाचारी निरभिमान वृत्ति का सुघड पुरुष है। उसने सुघडतापूर्वक तेरे जाल को विछिन्न किया है। अपने आपको तू त्रियाचरित मे निपुण मान अभिमान करती है। उस निरभिमानी पुरुष ने तेरे अभिमान को चूर–चूर कर दिया।

इतना सुनते ही उसका अभिमान फुफकार मारने लगा। कहने लगी– यदि मैं त्रिया चरित्र मे फैल हो गयी तो उसको परास्त करने वाला विश्व मे कोई नही हो सकता है। महारानी तपाक से बोली– रहने दे। क्यो मान मे चूर हो रही है।

तब उसने कहा– बताइये महारानीजी, कौन है वह जो उसे परास्त कर सके ?

महारानी का मान सबधी मानसतत्र सक्रिय बन चुका था। वह उसी मानाधता की दशा मे बोल उठी– अन्य नारियो को मैं क्या बताऊँ, मै स्वय ही बैठी हूँ।

कपिला ने आवेश दिलाते हुए कहा– यदि आप सफल हो

जाएँगी तो मै अपना मस्तक मुण्डवा लूँगी।

चुनौती स्वीकार ली गयी।

महारानी षड्यत्र रच अन्य महोत्सव के प्रसग पर पौषध शाला मे ध्यानस्थ बैठे नगर सेठ सुदर्शन को अपने भवन मे बुलवा लेती है। त्रियाचरित्र का जाल फैलाती है। परन्तु सेठ सुदर्शन विनम्र, सरलता से उसे बडी माता कह पुकारता है। अनेकानेक युक्तियॉ रचने पर भी रानी को सफलता नही मिली। तब सेठ को सूली पर चढवाने की आज्ञा प्रसरित करवा दी। उससे छोटे से लेकर बडे तथा सभी को कितना दुःख, सताप, वेदना हुई होगी, इसका अनुभव अनुभूतिपूर्वक किया जा सकता है, कथन नही किया जा सकता।

मानाध व्यक्ति मान के अधकार मे किस प्रकार अन्यो को उद्वेलित करते हैं, इस उदाहरण से यह समझा जा सकता है। सेठ ने मानरहित नम्रता, सरलता से पच परमेष्ठी को नमस्कार किया। अपने को मानाधकार से अनुरजित नही होने दिया। परिणामस्वरूप सूली का सिहासन बना। अतएव मानाधकार के विनाश के लिए निरभिमान वृत्ति का समीक्षण दृष्टि के माध्यम से निरतर अभ्यास करते रहना चाहिए।

सदाचार-मान का उपमर्दक

सदाचार एक ऐसी तीक्ष्ण छैनी है जो प्रतिपक्षी आचरण का समूल उन्मूलन कर देती है, अर्थात् बुरे आचरण को समूल नष्ट कर देती हे। मानव–जीवन के उन्नयन के लिए यह एक निरवद्य अस्त्र है जिसे दूसरे शब्दो मे अशस्त्र भी कह सकते हैं। तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्रो से जो कार्य किया जाता है उससे कई गुणाधिक यह अशस्त्र कार्य करने मे समर्थ है। तीक्ष्ण शस्त्र शरीर एव स्थूल वस्त्रो का छेदन–भेदन करता है। किन्तु अशस्त्र दुर्गुणो को आर्द्र कर सशोधित कर डालता है। जिन तत्त्वो से सद्गुण, दुर्गुण की सज्ञा धारण करते हैं, उन्ही दुर्गुणो का परिमार्जन कर यह अशस्त्र स्वच्छ निर्मल बना देता है। इस अपेक्षा से यह सद्गुणो का सरक्षक, स्थूल शारीरिकादि अवयवो का भी

सपोषक है। बाह्य शस्त्रो से भौतिक ध्वस होता है। विध्वस्त तत्त्व अन्य जनो को दूषित करते है। शारीरिक एव मानसिक विविध प्रकार की व्याधियॉ उत्पन्न करते है। किन्तु यह अशस्त्र तीक्ष्ण शस्त्र से उत्पन्न व्याधियो को शात कर पवित्र, सुगधमय वायु मडल जन–मानस मे तैयार करता है।

स्थूल शस्त्र भयावह एव बहु व्ययसाध्य होते हैं किन्तु यह सच्चरित्र रूप अशस्त्र आह्लादप्रद एव निर्भयता का प्रतीक है। स्थूल शस्त्र विष के तुल्य हैं। व्यक्ति, परिवार, समाज, एव राष्ट्र के प्राणियो मे विभेद, द्वन्द्व, सघर्ष, विग्रह प्रतिरोध की भावना और वैरानुबधी वैर की सर्जना कर भवभव मे चैतन्य देव को रुलाने वाले हैं। किन्तु सदाचार रूपी अशस्त्र अमृत की उपमा से भी उपमित होने वाला नही है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एव विश्व मे व्याप्त विविध भेदो को अभेद मे, द्वद्वो को अद्वद्व के रूप मे, सघर्ष को स्नेह मे, विग्रह को मैत्री रूप मे, प्रतिरोध को अनुरोध मे और वैरानुबध के स्थान पर निर्वैरता, निर्भयता और आत्मिक स्वरूप को विकसित करने वाला है। जन्म, जरा, मृत्यु आदि व्याधियो को समाप्त कर भवभ्रमण के जाल से विमुक्ति दिलाने वाला है। आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा पद का भाजन बनाने वाला है।

सदाचरण कल्पतरु से भी बढकर है। स्वपर–मनोवाछित अभीष्ट सिद्धि की उपलब्धि कराने वाला है। शर्त यही है कि वह वास्तविक हो, आत्म–प्रसूत हो, अध्यात्म के धरातल पर हो। इसका वर्गीकरण हो सकता है, टुकडे नहीं। कक्षाऍ बन सकती है, विभेद नही, अर्थात् शक्ति–सामर्थ्यानुसार इसे अपनाया जा सकता है। अधिक मात्रा मे जीवन मे इसका जितना प्रवेश होगा उतना ही जीवन दुर्गुणो से हीन–सशुद्ध बनेगा। दुराचरण की अनेक विधाऍ है। उनमे कई असभ्य रूप मे हैं तो कई सभ्यता के रूप मे प्रचलित हैं। कई दृष्टि पथ मे आने वाली हैं तो कई सामान्य जन के दृष्टिपथ मे नही आने वाली है। कई आतरिक गूढता को लिए हुए होती है।

आतरिक गूढता को लिए हुए चलने वाली दुराचरण की विद्याएँ अधिक खतरनाक होती है। उनमे से एक मान सबधी विद्या भी है। इस आतरिक मान सबधी विद्या का समूलोच्छेद भावात्मक सदाचरण रूप अशस्त्र की छैणी ही कर सकती है।

जब आतरिक मान की विद्याएँ विच्छिन्न हो जाती है तो उनके साथ पनपने वाले अन्य अशिष्टाचार भी समाप्त हो जाते है। अतएव चैतन्य देव को सदाचार रूप अशस्त्र का आश्रय लेना चाहिए। वही अचूक, अमोघ, सूक्ष्म, लोकोत्तर शस्त्र है आत्म–सरक्षण के लिए।

मान से विपन्नता

मनुष्य पूर्व जन्मो मे उपार्जित प्रकृष्ट पुण्य के परिपाक से सम्पन्न बन करके आया है। उसे मानवीय तन की जो उपलब्धि हुई है वह वहुत ही महत्वपूर्ण है। अनन्त पुण्य के सचय, अतराय कर्मो के क्षमोपशम तथा विशिष्ट नाम कर्मादि के उदय से मानव तनरूप पर्याय की प्राप्ति होती है। मानवीय तन की तुल्यता अन्य किसी योनियो मे सप्राप्त तन से नहीं की जा सकती। पशु या नारक अवस्था मे प्राप्त तन, मानव तन के मुकाबले मे कोई महत्त्व नहीं रखता। यद्यपि देव–तन भी अधिक पुण्य के सचय से आत्मा को मिलता है, किन्तु जो खूबी, जो महत्ता मानव तन मे रही हुई है वह देव–तन मे नही।

अमूल्यता :

अन्यान्य सासारिक पदार्थो की कीमत ऑकी जा सकती है। उनका व्यापार एव विनिमय किया जा सकता है। किन्तु मानवीय जीवन का मूल्य नही ऑका जा सकता। इसे अमूल्य निधि के रूप मे कहा एव स्वीकार किया जा सकता है। ऐसी अमूल्य उपलब्धि चैतन्य देव को अति ही दुर्लभता से होती है। इस शरीर के अतरग की सरचना का अवलोकन देखते ही बनता हे। शरीर से सवधित अतरग मे रहे हड्डी, रक्त–मासादि तत्त्वो का अवलोकन कर पाते हे विशिष्ट चिकित्सक। परन्तु अति सूक्ष्म सवेदनशीलता को वे भी अपने औजारो

से नही देख पाते। ऐलोपैथिक सिद्धातो के माध्यम से अनुमान से ही कुछ जाना जा सकता है। मस्तिष्क की अति सूक्ष्म सरचना एव तत्सबधी कई ऐसी ग्रथियाँ हैं जिनकी शोध अभी वैज्ञानिक नही कर पाए। उन ग्रथियो के कार्य और प्रणालियो का विधिवत् पूर्ण अनुमान भी नहीं कर पाए। मस्तिष्क की सरचना तथा उससे सबधित अन्य विषयो का तो कहना ही क्या ? यद्यपि सरचना का प्रधान उपादान भौतिक मैटर है किन्तु इस भौतिक उपादान को इस रूप मे सरचित करने वाला सर्जक विज्ञानवान् चेतना है। उसका तो कहना ही क्या ? अतएव समग्र विश्व की वस्तुओ के साथ उसकी तुलना करे तो इसकी समकक्षता मे कोई भी अमूल्य निधि उपलब्ध नही हो पाएगी। इस अमूल्य निधि रूप सम्पत्ति से सम्पन्न चैतन्य देव है, इसका क्या मूल्याकन किया जाए ? कहाँ इसका उपयोग करे ? किस रूप मे करे ? कितना करे ? जिससे इस अमूल्य सपत्ति का अवमूल्यन न हो पाए। चैतन्य देव यदि वस्तुस्थिति का यथार्थ विज्ञान नही रखने वाला होगा तो विपन्नता।

अस्वाभाविक पर्याय का सम्मान करने से स्वाभाविक पर्याय का अवमूल्यन होना स्वाभाविक है। जीवन मे स्वाभाविक तौर पर अनेक वृत्तियाँ अध्यवसायो का सबल पाकर विकासोन्मुख होती हुई आगे बढती है, उनसे सपुष्टि प्राप्त करती हुई पल्लवित, पुष्पित और फलित होती है।

किन्तु मानवृत्ति के अधीन रहने वाले पुरुष का ध्यान मुख्यतया उसी तरफ आकर्षित रहता है। उसी तरफ वह अग्रसर बनता रहता है। उन वृत्तियो को ज्यो–ज्यो अध्यवसायो को सबल मिलने लगता है त्यो–त्यो चैतन्य देव की अन्य वृत्तियाँ उपेक्षित बनती जाती है, गौण होती जाती है। इससे विकास की प्रक्रिया रुक जाती है। उसमे रुकावट ही नहीं, मुर्झाहट भी आने लगती है। वे सिकुडने लगती है। अततोगत्वा रोग ग्रस्त बन जाती है। तब जीवन की अमूल्यता एव तदनुरूप सम्पन्नता विपन्नता के रूप मे परिणत हो जाती है। परिणाम–स्वरूप जो अन्य स्वाभाविक कार्य निष्पन्न होने वाले होते है,

उनमे भी अवरोध पैदा हो जाता है। मानवृत्ति की अगडाई उग्र–रूपता के साथ जीवन मे व्याप्त होने लगती है। उस अवस्था मे चैतन्य देव शरीर से सबधित सम्पन्नता से विपन्न (दरिद्र) बनता है। आत्मा अपने आपको मानाभिनिवेश की वृत्ति से पवित्र गुणो से विपन्न बनाने लगती है।

अहवृत्ति का सपोषण होते रहने से वैभाविक गुण भेद की तरह पनपने लगते है। आत्मा की स्वाभाविक शक्तियॉ कर्मावरण से आच्छादित होने के कारण उनमे विपन्नता आ जाती है। अतएव मान का परम्परा से इतना घातक असर होता है कि जिससे मानसिक, वाचिक और कायिक वृत्तियॉ दरिद्र बनती हुई पुरुष के समग्र जीवन को ही विपन्न बना देती है। मान को प्रश्रय प्रदाता व्यक्ति वाणी के माध्यम से अन्य को तिरस्कृत करने लगता है, जिससे उसके द्वारा अर्थ सबधी उपलब्धि होती हुई रूक जाती है। फलस्वरूप मानव को आर्थिक दृष्टि से भी विपन्नता आ घेरती है। रात और दिन मस्तिष्क मे चलने वाली मानवृत्ति के कारण मस्तिष्क की वृत्तियॉ भी दोषयुक्त बन जाती हैं। उस दोष का परिमार्जन यथार्थ तरीके से न होने से मानस तत्र जो नित नयी नूतन वृत्तियो का आविष्कार करने वाला है, उन आविष्कारो को कर नही पाता। इस प्रकार मान से दूरगामी परिणाम जीवन की विपन्नता के रूप मे परिणत हो जाते हैं। साधारण मनुष्यो का तो कहना ही क्या, चरम शरीरी विशिष्ट महात्मा भी अपनी चरम उपलब्धि पाने मे असमर्थ रहते है। यह अनुपलब्धि सर्वोत्कर्ष गुण की विपन्नता कही जा सकती है। बाहुबली स्वामी का उदाहरण हमारे समक्ष है।

मान एक पागलपन :

चैतन्य देव मानव तन मे रहता हुआ जब स्वाधीन वृत्ति से जीवन का सचालन करता हे। तव वह जीवन व्यवस्थित एव प्रामाणिक होता है। उस जीवन का नियत्रण चैतन्य देव के अधीन रहने से विकृतियो का वोल–वाला नही हो सकता है। किन्तु जव स्वय का नियत्रण न रहकर पर का नियत्रण प्रादुर्भूत होता है, तव जीवन पराधीन वन जाया

करता है। जीवन मे मानवृत्ति का यदि साम्राज्य रहता है तो वह अपने अनुकूल कार्य करती हुई अपना पोषण करना चाहती है वह अन्य वृत्तियो को विकसित होने मे रुकावट डालती है। मानवृत्ति अपना असर मानसतत्र पर छोडती है। मानसतत्र जो अन्य कार्य करने का सामर्थ्य रखता था, वह सामर्थ्य मानवृत्ति के नियत्रण मे रहने लगता है। जब कभी भी मानवृत्ति को चोट लगने की स्थिति सामने उपस्थित होती है तो उस मानवृत्ति से प्रभावित मनुष्य उस चोट का प्रतीकार करने मे लग जाता है। क्या करना चाहिए क्या नही करना चाहिए ? इस प्रकार के विभ्रम से विमूढ हो जाता है। यह विमूढता भी एक प्रकार का पागलपन है। अन्यान्य प्रकार के पागलपन की तरह यह पागलपन भी स्व–पर की विनम्र वृत्तियो का अवमूल्यन करने वाला होता है। अकृत्य को भी कृत्य मान चल पडता है। दुर्योधन जुए मे छल–बल से विजयी होकर क्या कुछ कर गुजरा, यह विषय इतिहस एव पुराणो के पृष्ठो से जाना जा सकता है। उसमे अभिमान का इतना पागलपन आ गया कि त्रिखण्डाधिपति श्रीकृष्ण के समझाने के प्रयत्न भी विफल रहे। उसने आखिरी उत्तर मे कहा– मै बिना युद्ध, सूई की अणी पर आवे उतनी भी भूमि देने को तैयार नही हूँ।" इसी पागलपन के कारण यह धरा अनेक अप्रतिम योद्धाओ के रक्त से रजित हुई, अनेक परिवारो की दुर्दशा हुई, अनेक सन्नारियो को वैधव्य का दु ख भोगना पडा। भारतीय भूमि की समृद्धता छिन्न–भिन्न हुई। सती द्रौपदी का भरी सभा मे चीर हरण करने का दु साहस भरा दृश्य उपस्थित हुआ। यह मान के पागलपन का ही परिणाम कहा जा सकता है। अतएव प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि वह अपनी वृत्तियो का सचालन स्वय चैतन्य देव के नियत्रण मे करे। अपनी शक्तियो को मान के अधीन समर्पित न करे। यह तभी हो सकता है जब मान के पागलपन का समीक्षण दृष्टि से अवलोकन किया जाए। यही एक दृष्टि ऐसी है कि जो वस्तु का यथावत् बोध कराती हुई चैतन्य देव की शक्तियो का सदुपयोग करवा सकती है।

मान-प्रतिशोधात्मक आग :

मानवीय जीवन अधिकाशत मानवृत्ति के अधीन बना रहता है।

उसे अन्य बातो का विशेष ध्यान रहे या न रहे, पर मान की पुष्टि का अवश्य ख्याल रहता है। शिकार के उद्देश्य से भ्रमण करने वाली बिल्ली का मुख्य लक्ष्य शिकार ही रहता है। अन्य कार्य उसके गौण रूप मे रहते है। उसे जहॉ शिकार की आशा होती है वहॉ वह अपने शरीर को सकोच करके चुपचाप बैठ जाती है– शिकार को पकडने। मूषिक भद्रिक भाव से इधर–उधर ज्यो ही दौडने लगता है त्यो ही उसे झपट कर पकड लेती है और अपनी खुराक बना लेती है। वैसे ही यह मान रूपी बिल्ली मस्तिष्क मे चुपचाप बैठी रहती है। यत्किचित् भी अपमान कोई करता है तो वह उस अपमानकर्ता पर लपक–झपट्टा मारती है। उसे दबोच अपनी खुराक ग्रहण करना चाहती है। उसके अभाव मे प्रतिशोध की आग सुलगने लगती है। उस आग की चिनगारी स्वल्प निमित्त पाकर भी दानवता का रूप धारण कर लेती है। बडे–बडे योद्धा उस आग मे झुलसते रहते है। निरपराध प्राणी भी इसकी लपटो से बच नहीं पाते। यथा– पाण्डवो ने भवन बनवाया। विविध कलापूर्ण चित्र उसमे चित्रित करवाये। वह दर्शनीय स्थल–सा बन गया। आयोजन रखा गया, सभी को निमत्रित किया गया। भवन मे किसी प्रकार की कोई कमी किसी की जानकारी मे आये तो सुधारा जा सके। दुर्योधनादि कौरव भी पहुँचे। भवन का अवलोकन करते भीतरी भाग मे प्रवेश किया। रचना अनूठी, अद्भुत थी, फर्श मे पानी का भ्रम हो गया, सभाल कर चले। उस समय के दृश्य को देख, द्रौपदी के हँसी के फव्वारे छूट पडे और सहसा मुँह से निकल गया– "अधे के बेटे अधे ही होते हैं।" शब्द क्या निकला मानो अग्नि मे घी उडेल दिया गया। घाव पर नमक डालने का काम बन गया। कौरवो के चित्त मे प्रतिशोध की अग्नि लगी और महाभारत छिड गया। आधुनिक काल के, विश्व के दो महायुद्धो के पीछे भी चितन करने पर यही कारण दृष्टिगत होगा। अतएव साधक को प्रतिशोध की ज्वाला से बचने के लिए सतत सावधान जागरूक रहना चाहिए। पर यह तभी सभव है जब कि मान का स्वरूप समीक्षण दृष्टि से अवलोकित किया जाए। साधक को प्रतिशोधात्मक अग्नि उत्पन्न होने के प्रसग पर चितन करना चाहिए कि मेरी प्रतिशोधात्मक, विद्वेषात्मक

मन की वृत्ति से क्या समस्या हल हो जायेगी ? नही। क्या इसके लिए इसी प्रकार चितन, व्यवहार आवश्यक है ? पूर्व मे ऐसी वृत्तियो से कौन–कौन सी समस्याएँ हल हुई, ऐसा नहीं लगता तो क्या रुकावट उलझन पैदा हुई ? हॉ, इससे समस्या सुलझती नही, जटिल अवश्य हो जाती है। रामायण के युद्ध की समस्या सुलझने के सन्निकट पहुँच गयी। मन्दोदरी ने वस्तु स्थिति का ज्ञान कराकर रावण को राम के पास भेजने की तैयारी कर ली। वह पलग से उठा, किन्तु मान ने फुफकार मारी, वह द्वार से बाहर नही निकल सका और समस्या अधिक जटिल बन गयी। उसका कितना भयकर परिणाम आया, वह सबको विदित ही है। अतएव इस प्रकार का समीक्षण प्रति समय साधक को करते रहना चाहिए और मानस–तत्र–समीक्षण लोक से सावधानी पूर्वक अवलोकन करता रहे तो इस दु साध्य प्रतिशोधात्मक ज्वाला को उपशात–प्रशात किया जा सकता है।

मान-साम्राज्य :

सम्राट् अपना साम्राज्य देश–विशेष पर ही रख सकता है। उसमे भी समग्र जनता पर नही। जनतत्रीय पद्धति मे मुख्यमत्री अमुक प्रात मे बहुमत पर अधिकार रख सकता है, सभी जनसमुदाय पर नही। राष्ट्रपति की भी प्राय यही अवस्था पायी जाती है। लेकिन मान का साम्राज्य मानव–समुदाय पर ही नहीं, अन्य प्राणियो पर भी न्यूनाधिक रूप मे छाया हुआ है। इसका प्रभाव कई व्यक्तियो पर तो इतना अधिक रहता है कि उनका प्रत्येक कार्य उसकी अधीनता मे ही निष्पन्न होता है। यह एक अजेय योद्धा कहा जा सकता है। यह किस विधि से अपना प्रभाव डालता है, इसका उल्लेख करना कठिन सा है। कभी–कभी तो विशिष्ट प्रज्ञासम्पन्न पुरुष भी इसकी गहनता को समझने मे अक्षम रहता है। यह भी एक कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार न कार्य कर पाता है, न सफलता को ही वरण कर पाता है और अत मे मन मसोस कर, हताश होकर बैठ जाता हे। चितन अवश्य चलता रहता है कि अमुक कार्य अमुक विधि से करूँ, किन्तु तदनन्तर सोचता

हे कि इस विधि से करने मे मेरी प्रतिष्ठा को क्षति तो नही पहुँचेगी ? जिस विधि से कार्य करने मे मान को ठेस पहुँचे, ऐसी विधि से कार्य करना मेरे लिए कतई योग्य नही। फटे कपडे पहन लेना, अन्य अनेक कष्ट उठा लेना स्वीकार्य है, पर मान को अलग रखना स्वीकार्य नही। इस भावना से वह समाज मे विशेष महत्त्व का स्थान बना नही पाता और न पारिवारिक जनो का कृपापात्र ही बन सकता है। यह तो दूर, धर्मपत्नी का भी प्रिय नही बन सकता। क्योकि इन सब कार्यों मे अर्थ की प्रधानता रहती है। उस अर्थ की उपार्जना स्वय के माने हुए मान को सुरक्षित रखते सभव नही। मानावस्था मे कार्यकुशलता हासिल कर नहीं सकता, विधि हाथ लग नहीं सकती और उस विधि के बिना अर्थ की साधना सध नही सकती है। अर्थाभाव मे सामाजिक प्रतिष्ठा, पारिवारिक जनो का स्नेह एव स्वय की पत्नी आदि का भी अनुराग प्राप्त नही कर सकता। अतएव मान का साम्राज्य कितना अहितकर, कितना व्यापक, विशाल है यह सहज ही समझा जा सकता है। समीक्षणदृष्टि धारण करने वाला साधक समभावपूर्वक इसका अवलोकन करता है। समान भाव से व्यक्ति, पारिवार, समाज एव राष्ट्र की सेवा करता हुआ स्वय की गृहीत प्रतिज्ञाओ का अनुपालन करता है। शुभ–भाव से कर्तव्य की परिपालना करता हुआ ऊँची–नीची परिस्थितियो को समभाव से देखने लगता है। ऐसा साधक बिना अर्थ के ही सबका प्रीतिपात्र बन जाता है जो जीवन के लिए अति ही महत्त्वपूर्ण, अनूठी उपलब्धि कही जा सकती है। अतएव प्रत्येक साधक को मानसमीक्षण के लिए प्रतिदिन समय निर्धारित कर आतरिक जिज्ञासापूर्वक सत्कार के साथ अभ्यास करने की आवश्यकता है।

लक्ष्य-बाधक मान :

"प्रयोजन मनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" अर्थात् मंद से मद बुद्धि वाला भी प्रयोजन के बिना कार्य मे प्रवृत्त नहीं होता। प्रयोजन भी एक प्रकार का लक्ष्य होता है। जिसकी जितनी क्षमता, योग्यता होती हे वह उतना ओर वैसा ही लक्ष्य निर्धारित करता हे। उसमे अच्छापन भी होता

है एव बुराई भी। किसी भी लक्ष्य को साधने के लिए अपने जीवन को विनम्र बनाना ही पडता है। उसके बिना लक्ष्य की सिद्धि नही होती। किंतु मानव का स्वभाव प्राय मान से अनुरजित रहता है। जरा–सी भी उपलब्धि हुई नहीं कि मानव का मन अहकार की वृत्ति मे लिप्त होने लगता है और लक्ष्यकी सिद्धि की स्वल्प उपलब्धि को ही लक्ष्य मान लेता है। परिणाम यह होता है कि लक्ष्यपूर्ति से जो सप्राप्ति होने वाली थी उसकी तुलना मे वह यत्किचित् भी प्राप्त कर नही पाता। जिस उपलब्धि के कारण अह उभरा था वह उपलब्धि भी समाप्त हो जाती है। वह न इधर का रहता है, न उधर का। न लक्ष्य की सिद्धि कर पाया और न उपलब्धि को सुरक्षित ही रख पाया। अतएव साधक को अपने साध्य के प्रति सदा सर्वदा निष्ठा रखते हुए नम्रतापूर्वक उस के प्रति समर्पित होकर चलना चाहिए। साध्य भी अस्थायी–विनश्वर स्वभाव वाला नही होना चाहिए। स्थायी, अविनाशी एव चरम लक्ष्य को सदा सर्वदा सम्मुख रखते हुए समीक्षण दृष्टिपूर्वक व्यवहार की निष्ठा रख कर तदनुरूप क्रियान्विति मे तन्मयता लाना नितात आवश्यक है। उस लक्ष्य को साधते समय साधना मे लक्ष्य से विचलित करने के लिए कितनी ही रुकावटे आएँ, प्रतिकूल परिस्थितियो, आपत्तियो, विपत्तियो का अम्बार लग जाए, विपरीत वायुमडल की भयकर आधी क्यो न आये, उन सभी परिस्थितियो मे यत्किचित् भी विचलित न होता हुआ साधक उस विपरीत वायुमण्डल का समीक्षण दृष्टि से अवलोकन करे। विषम भाव उत्पन्न न होने दे, न लक्ष्य की ओर जहाँ से प्रयाण किया था उससे पूर्व की ओर झाके। झाँकना तो दूर रहा, ऐसा अनुचितन भी न करे कि इस पवित्र लक्ष्य की ओर बढने से पूर्व मेरे सामने कोई भी विपरीत वायुमण्डल नही था, पर जैसे ही इस पथ की ओर प्रयाण किया कि कटकाकीर्ण पथ ही दृष्टिगत हुआ। अतएव इस पथ की अपेक्षा पूर्व का पथ ही अच्छा था।

इसके विपरीत ऐसा सचिन्तन करे कि यह सब शुभ लक्ष्यसाधना के राजपथ पर आगे बढने के लिए परीक्षा के क्षण है। परीक्षा के इन क्षणो मे यत्किचित् भी विचलित नही होकर अडिगता रखना ही जीवन

है। शुभ पथ पर चलते विपरीत वायुमडल को देख घबराना या पीछे हट जाना वस्तुत जीवन ही नही है। गर्म हवा यानी प्रतिकूल परिस्थिति के कारण पुन वापिस लौटना वीरो का नही, कायरो का काम है। वीर पुरुष तो सत्कार–सम्मान को पीठ के पीछे रखता है, उसे ठोकर मार कर चलता है। अपमान, तिरस्कार, निदादि विपरीत परिस्थितियो की सन्मुखता मे विशेष साहस बटोर, दृढता के साथ अग्रसर होता है। अपने आतरिक सबल की अभिवृद्धि करता हुआ समीक्षण दृष्टि से देखता रहता है कि मेरे मन मे साध्य के प्रति विनय भाव जो "सर्वतोभावेन" समर्पणा की भावना थी उसमे कही मोच तो नहीं आयी, उस अविनश्वर साध्य के प्रति उदासी भाव आया हो तो यह समझे कि मेरी वृत्ति साध्य के प्रति समर्पित नही रही। मेरे विनम्रभाव मे जितने अशो मे न्यूनता आई, उतने अशो मे छिपे हुए मान ने काम किया। वही मान अन्य के कधे पर शस्त्र रख कर मुझे साध्य से विचलित करना चाहता है। प्रकारातर से पुरुषत्वहीन बना कायर की श्रेणी मे सम्मिलित करना चाहता है। पर मै पूर्ण सावधान हूँ। पर्दे के पीछे रहने वाले मान को मै लक्ष्य का अवरोधक ही मानता हूँ। अतएव विनम्र भाव की आड मे रहे हुए मान को आदर न देता हुआ मै श्रेष्ठ वीरो की सी सुदृढ चाल से लक्ष्य की ओर प्रगतिशील बनता रहूँगा। इस कार्य मे एक जीवन नहीं, अनेक जीवन भी खप जाएँ तो भी मै प्राणवान् पुरुषत्व को गौण नही होने दूँगा। प्रत्येक अवस्था मे लुके–छिपे मान को उसी दृष्टि से अवलोकित करता रहूँगा। तभी मैं साध्य के अवरोधक मान का भलीभॉति समीक्षण कर पाऊँगा।

मान की नीति :

जीवन मे धर्म से अनुप्राणित नीति बहुत बडा महत्व रखती है। व्यक्ति का जीवन इससे पवित्र, स्वच्छ, स्वावलम्बी तथा साहसिक बनता हे। धर्म से अनुप्राणित होने के कारण आध्यात्मिक बल की दृष्टि के साथ ही मन प्रफुल्लित–प्रसन्न रहता हे। जो जीवन व्यवहार सद्भावनापूर्वक वनता है वह आसपास के वायुमडल पर गहरा प्रभाव

उस पुरुष का सत्त्व अन्य के लिए आदर्श सबल का काम करता है। क्योकि धर्म से अनुप्राणित नीति प्रत्युपकार की भावना से रहित होती है। अर्थ परायणता से परे होती है। ऐसी नीति मे यश–कीर्ति आदि की कामना या भौतिक लाभ की लालसा नही रहती। उस नीति की विद्यमानता मे प्रति–पक्षी या अप्रतिपक्षी का समन्वय समीक्षण के साथ बनता है। इस प्रकार के जीवन–व्यवहार से आत्मबल, मनोबल प्रबल बनने के साथ ही शारीरिक बल भी उनका अनुसरण करने लगता है। उस प्रक्रिया का प्रभाव मन एव मानसतत्र को आकर्षित करता है। मानसतत्र शरीर के प्रत्येक तत्र को प्रभावित करता है, जिससे शारीरिक, वाचिक तथा बौद्धिक शक्ति का भी सचय होने लगता है एव जीवनविकास मे चार चॉद लग जाते है। किन्तु मान इस प्रकार के उदात्त जीवन का सहारक बनता है। मान के स्फुलिग जीवन के किसी कोने मे क्यो न गिरे, असावधानी रहने पर धीरे–धीरे विस्तृत आकार को धारण कर समग्र जीवन को उसकी उदात्तता, शूचिता एव समृद्धता को भस्मसात् कर देते है। मान की सत्ता जम जाने पर नीति मे स्वार्थ एव प्रत्यपुकार पाने की भावना का विष घोलना प्रारभ कर देती है। फिर उसकी प्रवृत्ति सिद्धि–वधू की अपेक्षा यशकीर्ति स्वरूपा कुलटा को वरने के लिए अधिक सक्रिय बनती है। ऐसी नीति धर्मशून्य होने से व्यक्ति के जीवन को ख़तरा पहुँचाती है। धर्मविहीन नीति द्विरगी होती है। वह अनेक रूप मे प्रकट हुआ करती है। ऐसी नीति का अनुसर्ता पुरुष अपने जीवन मे समरसता, एकरूपता ला नही पाता।

इस प्रकार की नीति अतर के किसी भी क्षेत्र विशेष मे क्यो न रहे, वह मान का अनुसरण करने वाली होती है। अतर मे बैठा हुआ मान अपने आपको प्रसिद्ध करने के लिए विविध उपाय करता रहता है। उस मान की वृत्ति मन को दूषित किए बिना नही रहती। मन दूषित होने से मानसतत्र भी उससे अप्रभावित नहीं रहता। उसकी जडे भावमन मे रही हुई होती हैं, क्योकि मान सबधी कर्म–वर्गणाएँ आत्म–प्रदेशो के साथ ओतप्रोत रहती हैं। वे भावमन को अनुरजित

करने मे पीछे नहीं रहती। जब मान का प्रभाव आत्मप्रदेशो एव भाव मन तक व्याप्त हो जाता है तब आत्मिक शक्तियॉ क्षीण हो कमजोर बनने लगती है। परिणामस्वरूप भावमन का समीक्षण नही हो पाने से उसमे नियत्रणशक्ति नही रहती। अनियत्रित अवस्था मे भावमन द्रव्यमन के साथ सयुक्त होकर मान सबधी प्रदूषण तैयार करता है। वह प्रदूषण शारीरिक तत्रो को प्रभावित करता है, और उस मान का अनुसरण करने वाली नीति धर्मविहीन होकर मान की क्षुधा शात करने के लिए मन मे विविध विचारो का सर्जन करती हैं। परिणामस्वरूप मन मान की अनुवृत्ति करता हुआ उसकी क्षुधा शाति के लिए विचारता है कि लोगो के साथ नैतिकता का ऐसा व्यवहार करूँ जिससे जन समुदाय तारीफ करने लगे। जितनी तारीफ बढती जायेगी उतनी ही प्रतिष्ठा बढेगी। उस प्रतिष्ठा की छत्रछाया मे अर्थप्राप्ति होगी एव सम्मान न करने वाले को दबाने मे सुविधा रहेगी। यह दशा साधारण व्यक्तियो को नैतिकता मालूम पडती हे पर वास्तव मे वह नैतिकता न होकर मानतृप्ति के लिए कुटिल चाल ही होती हे। इस प्रकार का व्यवहार ऊपर से भले ही फुलावट का दीखता हो, परन्तु भीतर मे मुर्झाहट, अप्रसन्नता एव खिन्न भावो का सर्जन करता हे। मानसतत्र मानसिक रोगो से ग्रसित हो जाता हे और अन्य जीवनतत्र को भी निर्बल व रोगग्रस्त बना देता है। भीतरी तत्रो की व्याधि से शरीर रोगो का आलय बन जाता है। मन का स्वास्थ्य भी स्वस्थ नही रहता। उसके स्वस्थ न रहने से वाणीतत्र भी विषमता से अनुप्राणित होकर शब्द का प्रयोग करता है। भीतरी दोषो के रोग से अनुप्राणित होने के कारण वह शब्दप्रयोग भी व्यक्ति, परिवार और समाज के शुद्ध वायुमडल को दूषित करने मे पीछे नही रहता। शब्द मे अनुरजित गदगी बाहरी वायुमडल को भी दूषित करती हुई शारीरिक, मानसिक, वाचिक तथा आध्यात्मिक बल हीनता को पनपाती है। ऐसे व्यक्तियो के समूह से पारिवारिक कर्तव्यपरायणता को आघात लगता है। समाज की नीतियॉ धर्म–रहित एव दोषपरिपूर्ण बनती है। इससे राष्ट्र ओर अन्तत विश्व भी प्रभावित हुए बिना नही रहता। परिणामस्वरूप जनजीवन मे अनैतिकता, अशिष्टाचार, धोखाधडी, राष्ट्रीय भावना का विलोपन, झूठ प्रपच, छल आदि फैलते है। वातावरण समग्र प्राणियो के

लिए अशातिदायक बनता है। इस प्रकार की धर्मविहीन नीति कुटिलता को धारण कर धर्मप्राण नीति का हनन करने वाली होती है, इसके मूल मे मान की वृत्ति ही छिपी होती है। अतएव साधक ही नहीं, प्रत्येक मानव को चाहिए कि वह मान का समीक्षण अत्यत पैनी बुद्धि से करे। आत्मविस्मृति को दूर कर सम्यक् आत्मशक्ति का नियत्रण भावमन पर रखे। भावमन का प्रवाह मानसतत्र को सचालित करने के लिए बहे। उस समय उस प्रवाह मे कही मान के रग का मिश्रण तो नही हो रहा है। इसका समीक्षण प्रतिदिन, प्रतिपल, प्रतिक्षण करता रहे। ऐसी जागृति आने पर मान की नीति–घातकता ही नही, अन्य अनेक घातक वृत्तियो का भी सशोधन होगा एव स्व–पर–हित के साथ–साथ वास्तविक सुख एव आनदानुभूति का आस्वादन जीवन मे स्थायित्व को प्राप्त होगा। परन्तु यह तभी शक्य है जबकि मान का समीक्षण भलीभाति सम्यक् प्रकार से कर लिया जाए।

मान-बंधन का मूल :

चैतन्य देव अपने मूल रूप मे सब प्रकार के बधनो से मुक्त, स्वाधीन चिदानन्दमय है। परन्तु स्वय की अजागृति से अनादिकालीन बधन मे जकडा हुआ है। इस बधन की मूल भित्ति विकारमय अध्यवसाय है। अध्यवसाय विविध परिस्थितियो मे अनेक प्रकार के बनते है। उन अध्यवसायो मे अन्य अनेक हेतुओ के अतिरिक्त मान भी कई दृष्टियो से एक प्रमुख हेतु है। इसकी प्रमुखता मे कर्म–बधन भी अधिक होते हैं। तथा निकाचित कर्मो के बधनो मे भी मान अपना प्रमुख पार्ट अदा करता है। जब–जब भी मान को चुनौती मिली, तब–तब इसने अपनी सुरक्षा के लिए अपने साथी क्रोध को आगे कर दिया। मानो इसी को अस्त्र बनाकर मान नहीं देने वाले पर क्रोधाग्नि की बरसा की। कस, कालिनाग, जरासध एव शिशुपाल इसके प्राचीन प्रतीको मे से कुछ हैं। अतीत शताब्दियो मे अन्वेषण करने पर अन्य अनेक प्रतीक पाये जा सकते हैं। वर्तमान मे भी चीन, रूस, अमरीका आदि देशो के नेता इसके प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उन लोगो के

अतिरिक्त अनेक आत्माओ के विविध प्रकार के कर्मबन्धन, सामाजिक रीति-रिवाजो के बधन, व्यापार सबधी नीतियो के जटिल बधन, पेचीदे कानूनो के बधन भी है। प्राणियो का जीवन इन अनेकानेक बधनो से अधिकाधिक ग्रस्त होता जा रहा है। परिणामस्वरूप विचारो की विविध प्रकार की जटिलता, कुटिलता, विलासिता, धनलोलुपता, यशो-कीर्ति की लिप्सा, एक-दूसरे को पछाडने की दुर्नीतियॉ, वासनाओ की उद्दाम दासता आदि हेतुओ के कारण मानव मे विविध प्रकार की ग्रथिया निर्मित होती जा रही हैं। इन ग्रथियो के बधन से जकडा हुआ जनसमुदाय विविध प्रकार के रोगो से इतना ग्रस्त बना गया है कि जिनका निवारण नही हो पा रहा है। कई तो असाध्य रोगो से पीडित होते हुए अपने जीवन का ही नाश कर डालते हैं। कई रोग निवृत्ति के उपायो की बदौलत अन्य अनेक रोगो को पैदा कर लेते है। दु साध्य जटिल रोगो के निदान को खोजने पर उनकी जडो में मुख्यतया मान ही पाया जायेगा। अतएव इन सब दुरवस्थाओ से मुक्ति पाने के लिए सम्यक निदान करने वाले मानवो की नितात आवश्यकता है। ऐसे मानव तभी निर्मित हो सकते हैं, जब कि इस विषयक विज्ञान की अभिरूचि रखने वाले व्यक्तियो को शिक्षित किया जाय। इसके लिए वर्तमान मे प्रचलित शिक्षा प्रणाली काम नही आ सकती एव अपूर्ण व्यक्तियो द्वारा निर्मित साहित्य भी पूर्ण सहायक नही हो सकता। किन्तु इस विषय की स्वतत्र शिक्षणशालाएँ, आश्रमादि का निर्माण करना आवश्यक है। आध्यात्मिक, प्रणालीयुक्त मनोविज्ञान के तोर-तरीको से कोमल वयस्क छात्रो को बाल मदिर की तरह शिक्षण दिया जाए, तरुण एव प्रोढ पुरुषो के लिए उनके अनुरूप विधाएँ तैयार की जाये, वृद्धो के लिए अनुकूल वातावरण के साथ सस्कारो को परिवर्तित करने का सत्पुरुषार्थ किया जाए। इसका प्रारभ आतरिक रूचि वाले साधको से चालू किया जाए। वे साधक समीक्षण ध्यान की विद्या से सर्वप्रथम अपने आपका अनुशीलन करे। स्वय के भीतर के सभी बधनो को तटस्थ भाव से विदित करे। एव ग्रथिभाव को विमोचित करने के लिए उसके विधि-विधानो को योग्यतम साधको के सान्निध्य मे सीखे।

तदनतर विचार सबधी अन्यान्य ग्रथियो का विमोचन करते हुए अतरपथ के राही बने, और अपने आप को समीक्षण ध्यान से आप्लावित कर ले। तत्पश्चात् अन्य साधक पुरुषो को भी उसी तरह का शिक्षण दे। शिक्षण देने वाले साधक पुरुषो के लिए परिवार, समाज एव राष्ट्र की तरफ से यथायोग्य योगदान मिलना चाहिए। आर्थिकादि दृष्टि की समस्या का समाधान समीचीन तरीके से हो जाने पर उनका ध्यान आर्थिक समस्या की तरफ जाना सम्भव न रहने से उनकी सारी एनर्जी (ऊर्जा) अन्वेषणपूर्वक अध्ययन–अध्यापन मे लग सकती है। उन समता साधक पुरुषो की शिक्षा पर्याप्त उच्च स्तर तक हो जाने पर वे साधक फिर उन उपर्युक्त मानजनित बधनो को समता–जीवन के धरातल पर, समता–समाज–रचना के साथ समीक्षण दृष्टि से करने का सत्पुरुषार्थ अपनाएँ। यह व्यवस्था दु साध्य हो सकती है किन्तु असभव नही। यदि मानव समुदाय समग्र बधनो से विमुक्त होकर सदा–सदा के लिए बाधा रहित सुख एव समृद्धता से सम्पन्न होना अत करण से चाहता हो तो वह अविलम्ब इस साधना मे जुट जाए अथवा जब भी वह ऐसा चाहेगा, जब अन्तर की भूख पैदा होगी तब भी यही उपाय कामयाब होगा। अन्य किसी भी प्रकार का उपाय समग्र बधन मुक्ति का बन नही सकता, यह ध्रुव–अटल सत्य है। आज चाहे किसी को विश्वास हो या न हो, पर जिस दिन भी समग्र बधनो से विमुक्ति होगी तो समताभावपूर्वक समीक्षण दृष्टि की पराकाष्ठा से ही होगी।

मान-जीवन की विकृति :

जीवन मे विविध परिस्थितियाँ उभरती हैं। उन अनेकानेक परिस्थितियो मे विकारग्रस्त परिस्थिति जटिल एव विषम होती है। इस विकारग्रस्त अवस्था के भेद–प्रभेद अनेकानेक, अनगिनत भी हो सकते हैं। उन भेद–प्रभेदो मे तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन करने पर ज्ञात होगा कि अनगिनत भेद–प्रभेदो को कुछेक प्रमुख भेदो मे वर्गीकृत किया जा सकता है। उन प्रमुख भेदो मे से मान भी एक भेद है। इसका भी बहुत बडा विस्तार है। इसकी शाखाएँ प्रशाखाएँ विश्व मे

फैली हुई है। इस मान रूपी विकार का प्रभाव प्राय न्यूनाधिक रूप मे सभी सासारिक आत्माओ पर छाया हुआ है। उनमे बौद्धिक विकासयुक्त मानवो मे उसका प्रभुत्व विशेष रूप मे पाया जाता है। इस विकार के प्रबल उद्भव के आवेग मे अन्य विकार कभी-कभी गौण पड जाते है इस विकार की प्रबलता मे व्यक्ति अपने अमूल्य, महत्वपूर्ण जीवन को रौंद-विनष्ट कर डालता है। अतएव प्रज्ञा सम्पन्न साधक पुरुष को चाहिए कि इस प्रकार के मान सबधी सैन्य-दल का समीक्षण दृष्टि से अवलोकन करे। इस अवलोकन के बिना इस विकार की सूक्ष्म जडे दृष्टिगत नहीं हो पाएँगी और जडो के अवलोकन के बिना उनका उन्मूलन नहीं किया जा सकेगा। उन्मूलन के बिना उसका रस मद नही होगा। विकार की जडे हरी-भरी बनेगी, वे जडे समग्र मानसतत्र को रस प्रदान करने मे पीछे नही रहेगी। मानस-तत्र का मान सबधी विकार परिस्थिति वश न्यूनाधिक रूप मे कभी-कभी हटता हुआ भी दृष्टिगत हो सकता है, पर उसका सर्वथा उन्मूलन नहीं होगा। जडो के उन्मूलन के अभाव मे इसको उखाडने का प्रबल पुरुषार्थ भी किया जाए तो भी वह उखडेगा नहीं। हॉ, वह रूपातरित हो जाएगा। समय आने पर पुन अपना प्रभाव दिखाने मे पीछे नही रहेगा। रूपातरण विनाश नहीं किन्तु परिवेश का परिवर्तन मात्र हे, अपनी आकृति को बदल कर अन्या-कृति मे रहना है। अतएव साधक को इसका उन्मूलन करने के लिए सतत जागृत रहना चाहिए तथा समीक्षण दृष्टि से अवलोकन करने का निरतर प्रयास चालू रखना चाहिए। समीक्षण दृष्टि की ऐसी शक्ति सम्पादित कर लेना है जिससे रूपातरित मान को भी मान असली रूप मे पहचाना जा सके, और उसका निष्कासन किया जा सके। इस विकार के समूल उन्मूलन की शक्ति यदि चैतन्य देव के अन्तरतर मे अभिव्यक्त हो जाए तो उस श्रेणी के अन्य विकारो का भी अवलोकन करने मे सुविधा हो सकती है। पर ऐसा करने के लिए आत्मिक स्वभाव का विज्ञान नितात आवश्यक है। निज स्वभाव की पहचान के बिना मान संवधी विकारी भाव की पहचान नही होगी, तव तक नकली जवाहरात की भी जानकारी नहीं हो सकती। उसके अभाव मे नकली जवाहरात का एव काच के टुकडो का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता। उनका

अवमूल्यन किए बिना असली जवाहरात से उनका विलगीकरण भी नहीं हो पायेगा। यह कार्य समीक्षण ध्यान की विद्या के बिना होना कतई शक्य नहीं।

दुर्भेद्य ग्रंथि मान :

ससार मे ग्रथियॉ, गठाने कई प्रकार की होती हैं। कपडा, रस्सी आदि की ग्रथियॉ सहज रूप से खोली जा सकती हैं। उनकी अपेक्षा बारीक तन्तुओ से बनी जाल की ग्रथियॉ खोलना अधिक कठिन है। उनकी अपेक्षा भी बासादि वृक्षो के मूल की ग्रथियॉ, अति दुरुह हैं। उनका विमोचन होना सहसा आसान नही। उन सबसे भी बढकर मिथ्यात्व की ग्रथि है। यानि जो वस्तु जैसी नहीं है उसको उस रूप मे मानने रूप ग्रथि मिथ्यात्व की ग्रथि कहलाती है। आत्मा की मूर्च्छित अवस्था मे यह ग्रथि रहती है। इस ग्रथि के कारण चैतन्य देव अनादि कालीन प्रगाढ अज्ञान–निद्रा से सोया हुआ है। ऐसी आत्मा को जागृत करने हेतु कितना ही उपदेश दिया जाए किन्तु उस उपदेश को ऐसी आत्माएँ सुन ही नहीं पाती। मिथ्यात्व की, गम्भीर मूर्च्छा की सघनता मे साक्षात् तीर्थंकर देव भी उपदेश प्रदान करे तो भी कइयो को तो वह उपदेश भी जगा नहीं सकता। वैसी ग्रथियॉ निकाचित बधन से युक्त होती है। उस बधन को विमोचित करने के लिए कोई ऐसा साधन नहीं कि जिससे उनका विमोचन किया जा सके, यद्यपि ऐसे ग्रथियॉ चैतन्य देव ने ही बाधी है। उस बधन के साथ उसकी अवधि का भी निर्धारण हुआ है। निकाचित कर्मग्रथि की स्थिति की अवधि ज्यो–ज्यो घटकर समाप्त होने के सन्निकट पहुॅचती है तो वह ग्रथि स्वत शिथिल बन खुलने लगती है। बहुत लम्बी अवधि समाप्त प्राय होने पर अवशेष अनिकाचित बंधनयुक्त स्थिति जब रह जाती है तब आत्मा कुछ जगने की अगडाई लेने मे सक्षम होती है। तब उसके अध्यवसायो की "यथा– प्रवृत्तिकरण" की सज्ञा बनती हैं। आत्मा को तव धर्म शब्द प्रिय लगने लगता है। फिर भी धर्म शब्द से सबधित विषय का विभाग नही किया जा सकता। कुछ अधिक परिणामो की उज्ज्वलता

अनादिकालीन अवस्था मे जब पहली बार बनती है तब उस अवस्था की उज्ज्वलता को "अपूर्वकरण" की सज्ञा से अभिहित किया जाता हे। उस समय इस अनादि कालीन ग्रथि का भेदन होता है। उसी सिलसिले मे परिणाम की धारा ऊपर की ओर बढती है, क्रमश "अनिवृत्तिकरण" की विशिष्ट अवस्था आती है, तब शात प्रशात समत्वभाव की उपलब्धि के साथ समीक्षण का प्रादुर्भाव होता है। यही समीचीन या सम्यक्दृष्टि है। अतएव यह ग्रथि कितनी दुर्भेद्य है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। जिज्ञासा होगी कि आत्मा (चैतन्य देव) अनन्य शक्ति सम्पन्न माना गया है, साथ ही उसका सत्पुरुषार्थ भी सब कुछ साधने वाला बन सकता है तो फिर उस मूर्च्छितावस्था मे से उसको तीर्थकर देव का उपदेश भी जगाने मे सक्षम क्यो नही होता ? जिज्ञासा समीचीन है। पर उसका समाधान भी समीक्षण दृष्टिपूर्वक ही किया जा सकता है। जो पुरुष समीक्षण दृष्टि से सम्पन्न होगा वह यह भली-भॉति जान सकेगा कि समर्थ उपादान कारण की विद्यमानता से ही निमित्त कारणो से कार्य सम्पन्न हो सकता है। प्रगाढ मिथ्यात्वदशा मे आत्मा रूप उपादान ही जब असमर्थ रहता है तव तीर्थकर प्रभु का उपदेश, जो निमित्त कारण हे, उसे कैसे जगा सकता है ? इसीलिए तीर्थकर देवो ने यथास्थान उपादान एव निमित्त का उल्लेख किया है। चैतन्य देव के निकाचित कर्मो के बधन जब शिथिलतर हो जाएँ तभी चैतन्यात्मा का सत्पुरुषार्थ एव परिपूर्ण ज्ञानसमृद्ध आत्मा का उपदेश कारगर हो सकता है। निकाचन वधन से भिन्न बधन वाली ग्रथियॉ सहज ही खुल सकती हैं पर निकाचन वधन की गॉठ नही खुल सकती। चेतन्य देव ने अधकार परिपूर्ण रूप मे प्रवेश कर अदर की अर्गला लगाने के साथ ही ताला लगा रखा हे एव वह ऐसे स्थान पर सो गया हे कि जहॉ वाहर से आवाज पहुँच नहीं सकती। कदाचित् वलवान् पुरुष की आवाज पहुॅच भी जाए तो वह पुरुष मूर्च्छावस्था की प्रगाढ निद्रा मे श्रवण नही कर पाता। ऐसी दशा मे वलवान् पुरुष की आवाज एव अन्य पुरुषो की आवाज क्या कर सकती हे। हॉ, प्रगाढ निद्रा की भी अवधि होती हे

और चैतन्य द्वारा ही निर्मित होती है। चैतन्य देव स्वय की विस्मृति के साथ उस अवधि को भी विस्मृत क्यो न कर दे अर्थात् उसको स्मरण रहे या न रहे, पर चैतन्य द्वारा कृत अवधि की समाप्ति स्वभावत निकट आती जायेगी और उस समय अवधि को चैतन्य देव का रस मिलना बद हो जाएगा तब वह स्वत समाप्त हो जाएगी। तदनन्तर स्वय उस अवस्था मे यदि कोई शब्द पहुँच जाए तो वह शीघ्र ही उठ कर ताला खोल, कुडी हटा स्वय बाहर आ जाता है। कदाचित् किसी की आवाज नही पहुँची तो भी अपनी कुछ आवश्यताओ को महसूस करता हुआ स्वभावत उस अधकार परिपूर्ण रूप से बाहर निकलता है, और उसे प्रकाश मिल जाता है। इस एकदेशीय उदाहरण से चैतन्यदेव की मिथ्यात्वोदय की प्रगाढ अवस्था समझी जा सकती है। अन्य रूपक सूर्य का लिया जा सकता है। सूर्य की प्रखर किरणे मनुष्य तो क्या पत्थर को भी गर्म कर देती है। इतनी सामर्थ्य–शक्ति सूर्य मे होने पर भी जब कभी घने रूप से कुहरा (घूबर) चारो ओर छा जाता है तब उसकी प्रगाढता के कारण समीप की वस्तु भी स्पष्ट दिखाई नही पडती। कुहरा यद्यपि अति ही कोमल होता है, फिर भी सूर्य की तीक्ष्ण किरणे कभी–कभी पूरे दिन मे भी उसके घने पटलो को हटा नही सकतीं। धीरे–धीरे स्वत ही उन पटलो की सघनता कम होती है तब सूर्य की किरणो का कुछ प्रभाव काम करने लगता है। वैसे ही मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के सघन, सघनतम पटलो से आच्छादित चेतन्य देव की शक्ति होती है। उस समय तीर्थंकर देव का केवलज्ञान की अवस्था मे प्रदत्त उपदेश सर्व दृष्टि से सम्पन्न होता है, परन्तु मिथ्यात्व मोहकर्म के गहनतम पटलो की अवधि समाप्ति के साथ विलग होने पर ही चैतन्य देव की शक्ति उपदेशादि के माध्यम से जागृत हो सकती है। वह जागृति यथाप्रवृत्तिकरण आदि से अभिव्यक्त होती हुई शात प्रशात अवस्था रूप उपशामावस्था के रूप मे आती है। यह अवस्था अन्तर्मुहूर्त के लिए प्राप्त होती है। तदनतर अर्थात् अतर्मुहूर्त के पश्चात् आत्मा की वह समता रूप प्रशातता क्षयोपशम के रूप मे नम्बरी चश्मे की भाति बन जाती है अथवा मिश्रावस्था मे

अनादिकालीन अवस्था मे जब पहली बार बनती है तब उस अवस्था की उज्ज्वलता को "अपूर्वकरण" की सज्ञा से अभिहित किया जाता है। उस समय इस अनादि कालीन ग्रथि का भेदन होता है। उसी सिलसिले मे परिणाम की धारा ऊपर की ओर बढती है, क्रमश "अनिवृत्तिकरण" की विशिष्ट अवस्था आती है, तब शात प्रशात समत्वभाव की उपलब्धि के साथ समीक्षण का प्रादुर्भाव होता है। यही समीचीन या सम्यक्दृष्टि है। अतएव यह ग्रथि कितनी दुर्भेद्य है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। जिज्ञासा होगी कि आत्मा (चैतन्य देव) अनन्य शक्ति सम्पन्न माना गया है, साथ ही उसका सत्पुरुषार्थ भी सब कुछ साधने वाला बन सकता है तो फिर उस मूर्च्छितावस्था मे से उसको तीर्थकर देव का उपदेश भी जगाने मे सक्षम क्यो नही होता ? जिज्ञासा समीचीन है। पर उसका समाधान भी समीक्षण दृष्टिपूर्वक ही किया जा सकता है। जो पुरुष समीक्षण दृष्टि से सम्पन्न होगा वह यह भली–भॉति जान सकेगा कि समर्थ उपादान कारण की विद्यमानता से ही निमित्त कारणो से कार्य सम्पन्न हो सकता है। प्रगाढ मिथ्यात्वदशा मे आत्मा रूप उपादान ही जब असमर्थ रहता है तब तीर्थंकर प्रभु का उपदेश, जो निमित्त कारण है, उसे कैसे जगा सकता है ? इसीलिए तीर्थकर देवो ने यथास्थान उपादान एव निमित्त का उल्लेख किया है। चैतन्य देव के निकाचित कर्मो के बधन जब शिथिलतर हो जाएँ तभी चैतन्यात्मा का सत्पुरुषार्थ एव परिपूर्ण ज्ञानसमृद्ध आत्मा का उपदेश कारगर हो सकता है। निकाचन बधन से भिन्न बधन वाली ग्रथियॉ सहज ही खुल सकती है पर निकाचन बधन की गॉठ नही खुल सकती। चैतन्य देव ने अधकार परिपूर्ण रूप मे प्रवेश कर अदर की अर्गला लगाने के साथ ही ताला लगा रखा है एव वह ऐसे स्थान पर सो गया है कि जहॉ बाहर से आवाज पहुँच नहीं सकती। कदाचित् बलवान् पुरुष की आवाज पहुँच भी जाए तो वह पुरुष मूर्च्छावस्था की प्रगाढ निद्रा मे श्रवण नही कर पाता। ऐसी दशा मे बलवान् पुरुष की आवाज एव अन्य पुरुषो की आवाज क्या कर सकती है। हॉ, प्रगाढ निद्रा की भी अवधि होती है

और चैतन्य द्वारा ही निर्मित होती है। चैतन्य देव स्वय की विस्मृति के साथ उस अवधि को भी विस्मृत क्यो न कर दे अर्थात् उसको स्मरण रहे या न रहे, पर चैतन्य द्वारा कृत अवधि की समाप्ति स्वभावत निकट आती जायेगी और उस समय अवधि को चैतन्य देव का रस मिलना बद हो जाएगा तब वह स्वत समाप्त हो जाएगी। तदनन्तर स्वय उस अवस्था मे यदि कोई शब्द पहुँच जाए तो वह शीघ्र ही उठ कर ताला खोल, कुडी हटा स्वय बाहर आ जाता है। कदाचित् किसी की आवाज नहीं पहुँची तो भी अपनी कुछ आवश्यताओ को महसूस करता हुआ स्वभावत उस अधकार परिपूर्ण रूप से बाहर निकलता है, और उसे प्रकाश मिल जाता है। इस एकदेशीय उदाहरण से चैतन्यदेव की मिथ्यात्वोदय की प्रगाढ अवस्था समझी जा सकती है। अन्य रूपक सूर्य का लिया जा सकता है। सूर्य की प्रखर किरणे मनुष्य तो क्या पत्थर को भी गर्म कर देती है। इतनी सामर्थ्य–शक्ति सूर्य मे होने पर भी जब कभी घने रूप से कुहरा (घूबर) चारो ओर छा जाता है तब उसकी प्रगाढता के कारण समीप की वस्तु भी स्पष्ट दिखाई नहीं पडती। कुहरा यद्यपि अति ही कोमल होता है, फिर भी सूर्य की तीक्ष्ण किरणे कभी–कभी पूरे दिन मे भी उसके घने पटलो को हटा नही सकती। धीरे–धीरे स्वत ही उन पटलो की सघनता कम होती है तब सूर्य की किरणो का कुछ प्रभाव काम करने लगता है। वैसे ही मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के सघन, सघ्नतम पटलो से आच्छादित चैतन्य देव की शक्ति होती है। उस समय तीर्थंकर देव का केवलज्ञान की अवस्था मे प्रदत्त उपदेश सर्व दृष्टि से सम्पन्न होता है, परन्तु मिथ्यात्व मोहकर्म के गहनतम पटलो की अवधि समाप्ति के साथ विलग होने पर ही चैतन्य देव की शक्ति उपदेशादि के माध्यम से जागृत हो सकती है। वह जागृति यथाप्रवृत्तिकरण आदि से अभिव्यक्त होती हुई शात प्रशात अवस्था रूप उपशामावस्था के रूप मे आती है। यह अवस्था अन्तर्मुहूर्त के लिए प्राप्त होती है। तदनतर अर्थात् अतर्मुहूर्त के पश्चात् आत्मा की वह समता रूप प्रशातता क्षयोपशम के रूप मे नम्बरी चश्मे की भाति बन जाती हे अथवा मिश्रावस्था मे

रूपातरित हो जाती है, या पुन तिरोहित हो जाती है। तिरोधान की अवस्था को सादी मिथ्यात्वावस्था कह सकते है। यह मिथ्यात्वावस्था पहले जैसी प्रगाढ नही होती, किन्तु अन्यान्य ग्रथियो के निर्माण मे हेतुभूत अवश्यमेव बनती है। उनमे से मान सबधी ग्रथि भी प्रगाढता से यदा-कदा निर्मित हो जाती है, जिससे उसका भेदन करना, विमोचन करना सामान्य आत्मा के लिए दुष्कर तो होता ही है, कई विद्वान् एव विचारवान् व्यक्तियो के लिए भी उसका विमोचन करना कठिन होता है। अतएव मान की दुर्भेद्य ग्रथि का विमोचन होना दु शक्य अवश्य है, किन्तु इस ग्रथि के भेदन की आतरिक तीव्र जिज्ञासा जिस किसी भी साधक मे उत्पन्न हो जाती है और उस साधक को समता के साथ समीक्षण दृष्टि के अभ्यास का सहयोग मिल जाता है, वह साधक निरतर समीक्षणाभ्यास कर भेदन अवश्य कर सकता है और इस ग्रथि जनित समस्याओ का समाधान पा सकता है।

अपलापक मान :

पवित्र आध्यात्मिक साधनाओ मे सलग्न साधको को आतरिक जीवन पवित्र, निर्मल स्वच्छता से परिपूर्ण होता है। उनकी आतरिक चेतना विविध अनुभूतियो से सम्पन्न हो जाती है। उन अनुभूतियो के रस से ओत-प्रोत विचार, उद्गार, उपदेश जब बाहर अभिव्यक्त होने लगते हैं तब उपदेशक वदनीय पूजनीय बन जाता है। उसके उपदेशो से अनेक भव्यात्माएँ जागृत बनती है। जागृति का यह निमित्त उन्हीं साधको के लिए कार्यकारी बन सकता है, जिन्होंने समीक्षण-विद्या से मानतत्र का समीचन रीत्या अवलोकन करने का निश्चय किया है। किन्तु जो साधक बौद्धिक दृष्टि से कुछ रटन मात्र करते हैं और उससे अपने अभिमान का पोषण करते हैं तथा स्वय के अभिमान से अभिभूत होकर पवित्र आचार-विचार वाले पुरुषो के पवित्र स्वरूप का अपलाप करते हैं अर्थात् उनके उपदेश को झुठलाने की चेष्टा करते हैं और कहते है- ज्ञान ही सब कुछ है, ज्ञान से हिताहित का मार्ग दिखता है। ज्ञान की उपलब्धि ही पवित्र जीवन की उपलब्धि है। आचरण की आवश्यकता नहीं है। आचरण के लिए कष्ट उठाने पडते हैं। निरर्थक

नियमोपनियमो की परिपालना करनी पडती है। कही फिल्मी गायन सुनने जा नही सकते, मनोज्ञ रूप को देख नही सकते, सुगध का उपभोग नहीं कर सकते। दुनिया के सुस्वादु पदार्थो का आस्वादन कर जायका नही ले सकते। रमणीय वस्तुओ का सस्पर्श नही कर सकते, इत्यादि बाते कह कर अपने स्वय के अभिमान को बढाने की कोशिश करते हुए कहते हैं कि मै कितना सुदर प्रवचन करता हूँ, कैसे गभीर तत्त्वो का प्रतिपादन करता हूँ, प्रचार–प्रसार की कितनी योग्यता रखता हूँ, इस प्रकार स्वय की प्रशसा स्वय ही करता हुआ बहिर्दृष्टि बनकर मान का पोषण करता रहता है तथा पवित्राचार–विचार का अपलाप करने के लिए सिर्फ ज्ञान का कथन करता है। ऐसे पुरुष न तो वास्तविक ज्ञान का तत्त्व समझते है और न ही पवित्र आचरणजन्य अलौकिक आह्लाद की अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं। क्योकि उन लोगो ने टेप रिकॉर्डिंग की तरह अपने मस्तिष्क मे कलाकुशलता के रूप मे उपदेश का सिलसिला बना लिया होता है। वे तोता रटन्त की तरह रटे–रटाये भाषण देने मे ही मान–अभिमान की अभिवृद्धि करते रहने से अपने अदर समीक्षण कर नही पाए है। वे नही जानते कि मैं जो इस प्रकार का वक्तव्य देकर तीर्थंकरादि पवित्र पुरुषो का अपमान कर रहा हूँ। यह मेरे लिए व अन्य जनता के लिए कितना घातक है।

बडे–बडे महापुरुषो ने पवित्र आचरण के साथ ही वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि की है। बिना आचरण के सही ज्ञान का स्वरूप उपलब्ध नही होता। इस प्रकार की समझ तभी जग सकती है जब वे अभिमान की उन्माद दशा से उपरत हो, शुद्धाचार एव आचारवान् का अपलाप करना छोडे तथा विनम्र भाव से पवित्र आचारवान् पुरुषो के समीप जाकर उनसे वास्तविक जीवन की साधना का मार्ग समीक्षण दृष्टि से अवगत करे। इसके अभाव मे जो शुद्धाचार एव विचारवान् महापुरुषो की वाणी की अवहेलना करता है वह स्वय की ही अवहेलना करता हे। वह अनेक प्रकार की समस्याओ मे उलझ कर स्वय की शाति को अशाति मे परिणत कर लेता है। साथ ही अन्य अनेक प्राणियो को अशाति के गर्त मे ढकेलने का कुप्रयास करता है।

महापुरुषो एव उनके उपदेश का अपलाप तो नही होगा, किन्तु ऐसा पुरुष स्वय की आत्मा को निविड कर्मबधन की अवस्था मे परिणत कर आयुबधन के समय दुर्गति का बध अवश्य कर लेगा। अतएव सच्चे साधक को ज्ञान से मान का पोषण कदापि नही करना चाहिए, प्रत्युत् समत्वभाव–पूर्वक अभिमान का समीक्षण करते हुए जीवन का सदुपयोग करना चाहिए।

विचार (ज्ञान) का अपलापकर्ता मान :

मानव स्वय की कमजोरी को सरलतापूर्वक स्वीकारने मे कतराता है, हिचकिचाता है कि कोई कुछ कह न दे, टोक न दे। इस बात को वह हर समय मद्दे नजर रखता है। दुर्बलता को छिपाने और अह के पोषण के लिए उसकी उधेडबुन निरतर जारी रहती है। अन्वेषण के अनुरूप उपाय भी मिल जाता है। यथा किसी ने कहा कि आप आचार मे श्रेष्ठ हैं ? अमुक–अमुक बातो का खूब ख्याल रखते है। इस विषय मे बहुत सजग हैं। यह बहुत ही श्रेष्ठ बात है, सराहनीय एव प्रशसनीय है। किन्तु इसके साथ यदि आध्यात्मिक ज्ञान को शास्त्र के माध्यम से हृदयगम करने का प्रयत्न करे तो सोने मे सुहागे की तरह जीवन मे निखार विशेष आ पायेगा। इसे श्रवण कर वह मन मे सोचने लगता है कि मुझ से शास्त्रीय विषय की अवगाहनता यानी गहराई को समझने की क्षमता भी बुद्धि मे नही है तो अति सूक्ष्म आध्यात्मिक ज्ञान की अवस्था मे कैसे पहुँचा जा सकता है ? इस कार्य को करने की क्षमता मेरी बुद्धि मे नही है, ऐसा कहूँगा तो लोग मुझे क्या समझेगे। मेरी हीनता प्रकट होने लगेगी, आदर–सत्कार सम्मान को ठेस पहुँचेगी इत्यादि अनेक बातो का चितन करता हुआ उन्हे भ्रमित करने और अपने आपको श्रेष्ठ ख्यापित करने तथा बहुमान सत्कारादि को टिकाये रखने के लिए अहकार पूर्वक कहता है कि क्या धरा है उस ज्ञान मे । ज्ञान तो पुस्तको मे बहुत भरा पडा है। मै चाहूँ तो खूब पढ सकता हूँ, पर ज्ञान की आवश्यकता ही क्या है। ज्ञान को सीखने मे समय का अपव्यय करना व्यर्थ है। ज्ञान तो पण्डितो मे बहुत है पर उनको कौन

पूछता है। ज्ञान ही श्रेष्ठ होता तो पण्डित साधु की तरह पूजनीय बन जाते। पर ऐसा नही होता है। अत ज्ञान की आवश्यकता नहीं, चारित्र ही सब कुछ है। इस प्रकार ऐकान्तिक रूप से कथन कर ज्ञान का अपलाप करता हुआ ज्ञानवरणीय कर्मो का प्रगाढ बध कर लेता है।

वीतराग देव के सिद्धातो के विपरीत कथन करने से उनकी आसातना होती है, मिथ्यात्व का भी बध होता है। प्राय अभिमान के वशीभूत होकर मनुष्य ऐसा अपलाप करता है। समताभाव को गरिमा प्रदान करने वाला पुरुष समीक्षण दृष्टि के साथ वस्तुस्वरूप को अवलोकित करता है। वह यह भी देखता है कि वास्तविक परमसुख और परम शाति ज्ञान तथा आचरण के सम्यक् समन्वय पर ही निर्भर है। उसी से अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है। इसीलिए कहा गया है कि "ज्ञान–क्रियाभ्या मोक्ष" सम्यक् ज्ञान और क्रिया के समन्वित रूप से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। सिद्धात की दृष्टि से भी प्रतिपादित हुआ है कि मन पर्यव ज्ञान की प्राप्ति बिना आचरण के नहीं होती आचारण भी सामान्य नही, उच्च कोटि की अप्रमत्त अवस्था का होना चाहिए। उससे आगे का केवलज्ञान भी आचरण की परिपूर्ण अवस्था यानी यथाख्यात चारित्र के आने पर ही प्राप्त होता है। इससे भली–भॉति जाना जा सकता है कि परिपूर्ण आचरण से ही परिपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है। वह आचरण भी क्षायिक यथाख्यात चारित्र होता है। अत ज्ञान और आचरण दोनो मे से किसी का भी अपलाप नहीं किया जा सकता। मानभिनिवेश मे दोनो मे से किसी एक का भी अपलाप करना आचरण का दोष ही माना जायेगा। वह दोष अभिमान रूप दोष की प्रमुखता मे पनपने वाली आचरण विहीनता का है। यह तो एक साधारण व्यक्ति भी जान सकता है कि भोजन का ज्ञान कर लेने मात्र से क्षुधा शात नहीं होती। क्षुधा निवृत्ति के लिए खाने की क्रिया रूप आचरण करना ही पडता है। खाने की क्रिया रूप आचरण कैसे करना, इसका ज्ञान प्राप्त किए बगैर खाने रूप आचरण की स्थिति नहीं बन सकती। अतएव साधारण से व्यावहारिक अनुभव मे भी ज्ञान एव आचरण दोनो मे से किसी एक का भी अपलाप नहीं किया

जा सकता। कोई यदि मिथ्या अभिमान करके साधारण व्यवहार मे भी दोनो मे से किसी एक का अपलाप करता है तो उसका क्षुधादि के दु ख से पीडित होना अवश्म्भावी है। अतएव जीवन–निर्वाह सबधी प्रत्येक कार्य मे मानादि दोषो का समीक्षण हुए बिना सामान्य जीवन का निर्वाह भी शातिपूर्वक नहीं हो सकता, तो साधनामय जीवन का तो कहना ही क्या ?

मान-विनय का प्रतिपक्षी :

विनय आत्मा की अत्यत कोमल वृत्ति है। उसे बाहरी दृश्य पदार्थो से उपमित करना शक्य नही। जन साधारण की दृष्टि से नवनीत कोमल गिना जाता है। धुवर भी अति कोमल होती है। इसी प्रकार अपकाय के मूल जीवो को भी शास्त्रकारो ने अति ही कोमल बतलाया है। इतनी कोमलता इनमे विद्यमान होने पर भी विनय वृत्ति की कोमलता की बराबरी की स्थिति इनमे नही पायी जाती। इस कोमल वृत्ति का प्रवाह अनवरत चलता रहे तथा सत्पुरुषो के सदुपदेशो का सयोग मिलता रहे, योग्य खुराक मिलने का प्रसग बनता रहे तो यह वृत्ति सद्‌गुणमय बन अन्यान्य सद्‌गुणो की वृद्धि कर सकती है। वृद्धि भी इतनी हो जाती है कि परिपूर्ण मानसतत्र मे इसका आधिपत्य स्थापित हो जाता है, फिर वह अन्य तत्रो को भी प्रभावित कर लेती है। जीवन के जब समग्र तत्र प्रभावित हो जाते हैं तब शरीर के प्रत्येक अवयव मे से सद्‌गुणो की आभा (किरणें) छिटकने लगती हैं। उसके इर्द–गिर्द के वायुमडल मे रहने वाले प्राणी उससे प्रभावित हुए बिना नही रहते। उसके सद्‌गुण की आभा वायुमडल मे प्रसारित होती रहती है और आगतुको के जीवन पर अज्ञात रूप से असर डालती रहती है। स्वय के जीवन मे परम सुख और शाति का सचरण तो उससे होता ही है और दूसरो मे भी उस प्रकार की भावनाएँ सचरित होने लगती हैं। अत इस प्रकार की वृत्ति प्रत्येक मानव मे अकुरित हो, पल्लवित पुष्पित फलित हो जाए तो समग्र ससार का वायुमडल ही बदल जाए, दु ख देन्यादि के निष्कासन के साथ ही राग–द्वेष, ममत्वादि जनित समस्याएँ

भी समाहित हो जाएँ।

ऐसी स्पृहणीय स्थिति उत्पन्न होने पर सघर्ष, विग्रह क्लेश आदि शब्द कोषो मे ही उपलब्ध हो, मानव–जीवन मे नही। पर क्या किया जाए। जीवन मे जैसे सद्वृत्तियो का सद्भाव है वैसे ही असद् वृत्तियो का भी अस्तित्व है। समय–समय पर इनका परस्पर सघर्ष भी चलता रहता है। किन्तु सामूहिक रूप मे दुर्वृत्तियो का प्रभाव इतना अधिक व्याप्त रहता है कि जिससे सद्वृत्तियो का विकसित होना तो दूर उन्हे खुराक मिलने का ही प्रसग नही बनता। परिणामस्वरूप आस–पास का जन–समुदाय भी दुर्वृत्तियो से ओत–प्रोत रहता है। वायुमडल भी उसी रूप मे नवागन्तुक पुरुष को प्रभावित करता रहता है। यही कारण है कि दु ख दैन्यादि अवस्थाएँ बरकरार रहती है। उन्ही दुर्वृत्तियो मे से मान की वृत्ति भी एक है। इसमे कठोरता, निर्दयता की अवस्था भी अनल्प रूप से रही हुई है। यह वृत्ति विनय रूप कोमल वृत्ति पर क्रूरता से प्रहार करती है तो विनय की वृत्ति छिन्न–भिन्न हो जाती है। कदाचित् सद्गुणी जनो के घनिष्ठ सम्पर्क–ससर्ग से उसके घाव भरने लगते है, तो वहॉ पर भी यह अभिमान की वृत्ति रूप बदल करके उपस्थित हो जाती है। यत्किचित् सदविचारो के श्रवण को लेकर वाणी द्वारा प्रस्फुटित होती है। मै कैसा कुशल श्रोता हूँ, मेरे समान अन्य श्रोता कोई नही, इस प्रकार श्रोता की पोषाक धारण कर अभिमानी विनय–वृत्ति को पुन छिन्न–भिन्न कर डालता है। कदाचित् सतो के सदुपदेश से लॅगडाती हुई विनय वृत्ति गुणो को वरने लगती है, व्रत अगीकार कर चलती है। परन्तु अन्य को व्रत ग्रहण करते नही देखती है अथवा अन्य की स्वल्प वृत्ति को देखती है तो वह मान की वृत्ति धर्म की पोषाक पहनकर विनय वृत्ति को पुन गिरा देती है। कभी किसी को दान देती हुई देखकर विनय वृत्ति किसी के सहारे खडी होने का साहस बटोरती हे और दान देने की उदारता के रूप मे उपस्थित होती है, उस समय मेरी यशकीर्ति–ख्याति फेलनी चाहिए, इस भेष मे अभिमान की वृत्ति जागृत बन करके फिर उस वृत्ति को झकझोर देती हे। कभी ब्रह्मचर्य का महत्व समझ कर शील व्रत रूप

गुण का वरण करने मे प्रयत्नशील बनती है तो प्रशसा रूपी टोप को धारण कर उस शील गुण को भी अभिमान की मलिनता से आच्छादित कर देती है। विशिष्ट तप का स्वरूप ग्रहण करने के लिए विनय वृत्ति साहस बटोर तप का आभास प्रारभ करती है, लोगो के मुँह से श्रवण करने को मिलता है कि– "अहो ! आप तो दान शीलादि गुणो के साथ–साथ तपस्वी भी हो गये" तो उस वक्त यह मान रूपी खुपिया सदा कर्णेन्द्रिय के निकट बैठने लग जाता है एव मानस तत्र को यह सोचने के लिए बाध्य कर देता है कि यह प्रशसा के शब्द कहॉ से मिलते हैं। जहॉ से अधिक मिले वही शरीर को ले चलने के लिए मानसतत्र को बाध्य कर देता है और जहॉ कुछ आलोचनात्मक बाते सामने आती हैं वहॉ से शरीर को हटाने के लिए कोशिश करता है। कभी विद्वत्ता प्राप्त हो गयी तो यह अभिमान उस विनय वृत्ति पर चट्टान बन कर गिरता है।

ऐसे अवसर पर मान मन को सोचने के लिए बाध्य कर देता है कि मेरी सानी का अन्य कोई विद्वान् नही है। मैं सब कुछ जानता हूॅ। कदाचित् कोई सहृदय व्यक्ति उसकी त्रुटि निकालता है तो उसकी उपेक्षा करता हुआ वह कहता है– रहने दो, सब कुछ जानता हूॅ सयोगवश विनय वृत्ति साधु जीवन स्वीकारने मे तत्पर बन उसे अगीकार कर लेती है तो भक्तजनो को नमस्कार करते देखकर अभिमान मानो पहलवान का रूप धारण कर मानस तत्र को यह सोचने के लिए बाध्य कर देता है कि मै अखिल विश्व मे श्रेष्ठ साधु हूॅ, मेरी समकक्षता वाला कोई साधु नहीं है। अतएव मुझे ही सत्कार–सम्मान मिल रहा है। मैं ईश्वर बन गया हूॅ। अब मुझे ज्ञान ध्यान तप साधनादि कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रही। यदि मैं ज्ञान ध्यानादि साधना मे बैठूॅगा और मेरे भक्त आएॅगे तो वे सोचेगे कि इनमे अभी साधना की कमी है। ये पूर्ण ईश्वरत्व को नही पा सके हैं। यदि पूर्ण ईश्वर बन गये होते तो साधना मे क्यो बैठते ! अतएव मुझे साधना मे नहीं बैठना चाहिए। दबी हुई विनय वृत्ति अदर से पुकारती है कि अभी जीवनोत्कर्ष की साधना करनी है, अनेक गुणो को वरना है। वह डरती–डरती ऐसा कहने का

साहस करती है कि अभिमान चट से उसके मुँह पर ऐसा चाटा मार देता है कि वह विनय वृत्ति बोलना छोड अपने मुँह को सहलाने लगती है। इस प्रकार यह अभिमान विनय स्वरूप को दयनीय दशा मे डालकर नष्ट कर देता है इसीलिए तो वीतराग देव ने अपनी अनुभूतिपूर्वक फरमाया कि "माणो विणय नासणी" अर्थात् मान विनय का विनाशक है।

मान के विविध रूप : जाति का गर्व :

मनुष्यजन्म के साथ ही मान का जन्म होता है। मनुष्य शरीर जितनी पोषाके धारण करता है, उनसे ज्यादा रूप यह बना देता है। जैसे ही शिशु समझ पकडता है वैसे ही अपने सरक्षको से सुनता है कि हमारी जाति उत्तम है। इसके तुल्य अन्य कोई जाति नही है। यह श्रवण शिशु के मस्तिष्क मे भली भाति प्रवेश पा जाता है। जब कभी जाति की चर्चा चलती है तो वह बालक बोल उठता है कि हमारी ही जाति श्रेष्ठ है, अतएव हम ऊँचे हैं। अन्य सभी जातियाँ हीन है और हीन जातियो मे जन्म लेने वाले मनुष्य भी हमसे हीन हैं। वे हमारी समकक्षता मे खडे नही हो सकते है। हमारे बराबर नहीं बैठ सकते है। ऐसा जाति–मदग्रस्त व्यक्ति जाति के अभिमान से अभिभूत होता हुआ, अन्य को कुछ नहीं गिनता हुआ, उसी भावना मे गुनगुनाता हुआ इधर–उधर फिरता रहता है। इस प्रकार जातिवाद के रूप मे मान का स्वरूप भी उभरता हैं

साधक को चाहिए कि इस प्रकार के मान का समीक्षण करे एव सोचे कि मैं इस प्रकार का अभिमान कर अपने तनावग्रस्त बना रहा हूँ, घृणा–जनित पापो का उपार्जन कर रहा हूँ। इस प्रकार की लोकप्रचलित जातियाँ वस्तुत जातियाँ नही हैं, व्यवसायादि की दृष्टि से जाति रूप से स्थापित हो गयी है। शास्त्रकारो ने जाति का स्वरूप विकास के आधार पर बतलाया है।

जिस जीव को एक ही इन्द्रिय प्राप्त हो, ऐसे समस्त जीवो को एकेन्द्रिय जाति के रूप मे अभिहित किया गया है। उस एकेन्द्रिय

जाति के प्राणियो मे कर्मोदय के अनुसार विविध प्रकार की तरतमता रही हुई है। यथा– पृथ्वी ही जिसका शरीर है ऐसे प्राणी पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय जाति के रूप मे पहचाने जाते हैं। किन्तु पृथ्वी–पृथ्वी मे भी बहुत अतर पाया जाता है। कोई सुगध युक्त पृथ्वी है तो कोई दुर्गधपरिपूर्ण स्वरूप मे रहने वाली पृथ्वी हैं। कोई मिट्टी के रूप मे है तो कोई पाषाण के रूप मे है। कोई रत्न जवाहरात के रूप मे है तो कोई स्वर्ण रजत के रूप मे है, कोई चन्द्र–सूर्य आदि के विमान के रूप मे है। इस प्रकार पृथ्वी जाति मे विविध उप–जातियॉ रही हुई हैं। मूल्यवान् एव मूल्यरहित आदि अवस्था मे होने पर भी पृथ्वीकायिक जीवो मे परस्पर मे अभिमान की अवस्था दबी हुई रहती है किन्तु अभिव्यक्त नही हो पाती। वैसे ही अप्कायिक–पानी ही जिसका शरीर है वे भी एकेन्द्रिय जात्यतर्गत है उनमे भी खारापन, मीठापन आदि के रूप मे विभिन्नता रही हुई है।

तेजसकाय–अग्नि ही जिन आत्माओ का शरीर है उनका समग्र समूह तेजसकाय एकेन्द्रिय जाति है। इसमे भी अनेक भेद है। विद्युत की अग्नि, चूल्हे की अग्नि, भट्टी आदि की अग्नि। इसी प्रकार वायुकायिक ही जिनका शरीर है, वे प्राणी वायुकायिक एकन्द्रिय जाति मे है। उनके भी विविध भेद–प्रभेद हैं। तथा वनस्पतिकायिक–वनस्पति ही जिनका शरीर है ऐसे जीवो का समुदाय एकेन्द्रिय वनस्पति जाति के नाम से अभिहित किया जाता है। इसकी महिमा बहुत ही बढी–चढी शास्त्रो मे पायी जाती है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रियादि भी एक–एक जातियॉ है। इनमे भी अनेक भेद–प्रभेद है। किन्तु इन जातियो को लेकर अभिमान करने का कोई प्रसग नही रहता है, क्योकि स्वाभाविक तौर पर चिकास के तारतम्य की प्रधानता से ये जातियॉ निर्मित होती है।

इन्ही जातियो का उल्लेख तीर्थकर भगवतो ने किया है, अतएव इनके आधार पर मान के उद्भव का प्रसग ही नही रहता। जो कृत्रिम जातियॉ हैं, वे एक दृष्टि से कल्पित है। उनको लेकर अभिमान करना

अपने आपको हीनता के उन्मुख करना है। अतएव तत्त्वदर्शी पुरुष विचार करता है कि कल्पित जाति का अहकार मेरे लिए कतई हितावह नहीं है, क्यो मैं कृत्रिम जाति के पीछे अभिमान की वृत्ति को पुष्ट एव प्रबल बना कर आत्मा को कर्मो से क्यो बोझिल बनाऊँ।

जाति का दूसरा अर्थ मातृपक्ष है। जिस–जिस सतान की माता या मातृ–पक्ष–ननिहाल का जीवन धार्मिकता एव नैतिकता से सम्पन्न है, वह मातृपक्ष की दृष्टि से जातिमान् कहलाती है। जातिमान् सतान का इस प्रकार समीक्षण होने पर उसका अभिमान उभरने की बजाय विलय को प्राप्त हो सकता है। क्योकि जो जातिमान है वह गृहीत सदनुष्ठानो का यथाशक्ति पालन करता है। परिपालना करते कितनी भी विकट परिस्थितियॉ क्यो न आ जाएँ, कितना भी अपमान–तिरस्कार का प्रसग उपस्थित क्यो न हो, तथा अनल्प सकट भी उपस्थित हो और वे चिरकाल तक चालू रहे, फिर भी वह जातिमान सतान कभी विह्वल नही होती, न ही घबराती है। गृहीत सत्प्रतिज्ञाओ के विषय मे भी वचन से हीनता प्रकट करना तो दूर, मन मे भी हीन भावना एव अरुचि का प्रसग उपस्थित नहीं होने देते। समीक्षण से समग्र परिस्थितियों एव वस्तुओ को यथायोग्य तथ्यरूप मे अवलोकित करता हुआ मातृपक्ष को लाछन नही आने देता। इसीलिए वीतराग देवो ने धर्म की साधना के लिए जातिसम्पन्नता को भी स्थान दिया है। जाति सम्पन्न पुरुष धर्म मे अडिग–अचल रहता है, उपस्थित परिस्थितियो को परीक्षण का क्षण मानकर चलता है। अतएव साधक को मान–समीक्षण का अवलम्बन लेकर मान रूप दुर्गुण को अपने अदर पनपने नही देने रूप सत्पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। पर जिसको मान समीक्षण करने की विधि–कला ज्ञात नहीं होती है, वही कृत्रिम जाति की पोषाक पहनकर मान के ऊँचे शिखर पर चढ जाता है।

कुल का गर्व :

पुरुष जिस घेरे मे जन्मा है उस घेरे को कुल मान लेता है और अपने कुल को अन्य कुलो से ऊँचा समझकर गर्व करने लगता है।

ज्ञान की न्यूनता के कारण वह यह नही सोच पाता कि बिना सद्गुण–कर्म के उच्च कुल की अवस्था कैसे बन सकती है। ऐसी अवधारणा से अनेक अनर्थ घटित हो सकते है। यदि सत्–पुरुषार्थ आदि गुण कर्म के बिना ही अमुक घेरे को ऊँचा कुल मान लिया जाए तो गुण गौण हो जायेगे, जिससे कुल के अधर्म रूप कृत्यो को भी मानव धर्म मानकर चलेगा। ऐसे कुल का अभिमान सतान को कुमार्ग पर अग्रसर कर देता है। यथा शास्त्रकारो ने पैतृक परम्परागत पवित्राचरण वाले पितृपक्ष को उच्च कुल कहा है, अर्थात् जिसके पितादि का आचार–विचार शुद्ध हो उसका पुत्र कुल–सम्पन्न कहलाता है। ऐसा कुलसम्पन्न पुरुष प्राण को खतरे मे देख करके भी गृहीत पावन प्रतिज्ञाओ को नही तोडता। तोडना तो अति दूर, उनमे लचक आने जैसी स्थिति भी नही आने देता और न सत्प्रतिज्ञाओ के प्रति अरुचि ही लाता है। कुलसम्पन्नता का बहुत बडा महत्वपूर्ण प्रभाव पुत्र पर रहता है। इसीलिए पॉच पदो के गुणो के प्रसग से जाति–सम्पन्नता, कुलसम्पन्नतादि विशेषणो का उल्लेख किया गया है। अत पुरुष को कुलो की वास्तविकता का समीक्षण कर कुल से सबधित मान से निर्मुक्त होना चाहिए।

बल-मानोद्भव का स्रोत :

शरीर की बलिष्ठता के सामर्थ्य को पाकर अज्ञ जन अभिमान मे फूला नही समाता। उस बलमद के साथ जब धनबल और जनबलादि का सयोग मिल जाता है तब बलमद का उद्दीपन विशेष रूप से उभर जाता है। तब हीन वृत्तियॉ परिपुष्ट होने लगती है। बल के अहकार की क्षुद्र वृत्ति के अधीन बन वह अन्यो को हीन दृष्टि से देखने लगता है। दूसरो का तिरस्कार करने के लिए कटिबद्ध बन जाता है। अपने अकृत्य को भी कृत्य मान बल का प्रदर्शन करता हुआ सतुष्टि का अनुभव करने लगता है। अन्य की छोटी–सी त्रुटि को विशाल आकार प्रदान कर निरपराध प्राणियो को पीडित करता है, त्रास पहुँचाता है, और कभी–कभी उनका घात भी कर बैठता है। उस समय बलोन्माद

की अवस्था रहने से सोच नही पाता कि इसका क्या परिणाम सामने आयेगा, किस रूप मे आयेगा ? क्या यह बल मुझे उस दुष्परिणाम के भोग से बचा सकेगा ? इन तथ्यो को विस्मृत कर पापमय कार्यो मे रुचि रखता हुआ निश्शक कर गुजरता है। जब उनके फलोपभोग का प्रसग आता है, उस समय उसे वह अभिमान बचा नही पाता। कृत्यो का परिणाम कभी–कभी शीघ्र मिल जाता है तो कभी देर से भी सामने आता है। उस समय हाय–हाय करता हुआ वह प्राणो का परित्याग करता है। ऐसी घटनाएँ अनेक बार घटित होती दृष्टिपथ पर सामने आती हैं। सुना है, मेरठ जिले मे दादरी नामक ग्राम था। शारीरिक दृष्टि का एक पहलवान अपने शरीर को देखकर फूला नही समाता। अन्य को हीन समझ कार्य करता रहता। जब दूध कीं हण्डिया रखकर शारीरिक बल को बढाने के लिए कुश्ती लडता, तब एक कुतिया दूध की हण्डियो मे से कुछ दूध पी जाती। कई दिनो बाद सोचने लगा कि प्रतिदिन मेरा दूध कम हो जाता है। कौन पीता है ? एक दिन इसकी जानकारी करने छिपकर बैठ गया। कुतिया को दूध पीते देखा तो उसे कमरे मे बद कर तपी हुई लोह सलाका उसकी ऑखो मे डाल दी। सोचा– यह दूध देखेगी ही नही तो पीयेगी कैसे। इसे पता नही कि मैं पहलवान हूँ। मेरे सामने साधारण मनुष्य तो क्या, बडे–बडे पहलवान भी थर्राते हैं। इस कुतिया ने मुझे चुनौती दी तो उसका फल चखा दिया। सीना फुला कर अपने आपकी प्रशसा करने लगा। कुछ समय पश्चात् वेचारी कुतिया चल बसी। परन्तु इस पहलवान के इस कृत्य से कर्मबध ऐसे हुए कि सात दिन के बाद उसकी स्वय की ऑखो मे इतनी उग्रतर शूल की वेदना प्रारभ हो गई कि वह छटपटाने लगा, दीन व कमजोर बन गया। उसका अभिमानमर्दन तो हुआ ही, साथ ही अपने आपको दीन, असहाय महसूस करता हुआ चिल्ला–चिल्ला कर कहने लगा– हाय मेरी वेदना कोई ठीक करो। पर अब क्या हो ? अभिमान के वश हो कर अज्ञ प्राणी की यत्किचित गलती से उसे जो क्रूरतापूर्ण दण्ड दिया उसका फलोपभोग करते हुए वह भी समाप्त हो गया। अतएव सुज्ञ पुरुषो को मान समीक्षण से इस दुर्गुण को जीवन से निष्कासित करने का सत्पुरुषार्थ करते रहना

चाहिए।

रूप- मानवृत्ति का उद्दीपक :

शारीरिक रूप क्षणभगुर है– शीघ्र विनष्ट होने वाला होता है। इस तथ्य को नही समझने वाला पुरुष शारीरिक रूप को सब कुछ मानकर अभिमान का चोगा पहन लेता है। अपने रूप के मद मे मस्त होकर अन्यो के प्रति घृणित भावना रखता है। सोचता है कि मेरे रूप सौन्दर्य की तुलना मे इनका क्या रूप है, कुछ भी नही। कभी–कभी व्यक्ति अपने रूप का अभिमान–पूर्वक प्रदर्शन करता है। अपने रूप की कृत्रिम लौ दिखाकर अन्य को उस लौ मे भस्मीभूत होने को बाध्य कर देता है। कभी प्राय पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे इसका प्राबल्य देखा जाता है। नैसर्गिक रूप की अवस्था नही होने पर भी, रूप को निखारने के लिए विविध प्रकार की प्रसाधन सामग्री से शृगार सजाया जाता है और दूसरो की जिदगी को इसकी बलिबेदी पर चढाने के लिए बाध्य किया जाता है। इस विषय के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

मान का समीक्षण करने वाला पुरुष इसको अपने पर हावी नही होने देता, किन्तु समय आने पर मान को अभिव्यक्त करने मे, जो विपुल वैभव आदि मान के विविध साधन है, उन्हे निस्सार समझ कर, रूप–मद की पोषाक को दूर हटा देता है एव आत्मिक रूप को निखारने के लिए चल पडता है। पौद्गलिक रूपो का यथार्थ दर्शन हो जाने पर अपौद्गलिक, सदा शाश्वत रहने वाले आत्मिक शुद्ध स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए एक क्षण का भी विलम्ब नही करता। यथा– सनत्कुमार चक्री।

जब तक शारीरिक रूप का गर्व परिपोषित होता रहा तब तक चक्रवर्ती छह खण्ड के राज्य को उपभोग करता रहा। जैसे ही शारीरिक रूप लावण्य की विनश्वरता का अवबोध हुआ त्यो ही तुरत नासिका के श्लेष्म की भाति परिवार सहित चक्रवर्ती का वैभव त्याग शारीरिक रूप की भी सर्वथा उपेक्षा कर डाली तथा निज स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए समता की पूर्ण साधना साधते हुए मान के मूल

का निर्मूलन कर डाला।

तप : आधि-व्याधि की अमोघौषध

तप आत्मशुद्धि के लिए पवित्रतम रसायन है। इस रसायन का आसेवन करने वाला मुमुक्षु साधक अपने अतरग मे रहे कर्म–कालुष्य के अशौच को विशुद्ध करता है। यह रसायन केवल शरीर को ही सस्पर्शित करने वाली नहीं अपितु अतरग को सस्पर्शित कर उसे भी विशुद्ध बनाने वाली है। अतरग स्थिति को सस्पर्शित करने वाली तप रूप जो रसायन है वह साधारण की दृष्टि मे नही आती, किन्तु उससे कर्मरूप अशौच की विशुद्धि होती रहती है और आत्मा की निर्मलता, पवित्रता, स्वच्छता अभिव्यक्त होती जाती है। विवेक का अवलम्बन लेकर तपश्चरण रूप रसायन का सेवन पथ्य के साथ करने से पाप के कालुष्य से ओतप्रोत वृत्तियो से वह निवृत्त बनता हुआ जीवन के निगूढ तत्त्व को पहचान उत्तरोत्तर विकास की तरफ गतिशील बनता रहता है। जीव की समग्र स्वाभाविक शक्तियॉ उभर–उभर कर सामने आ उपस्थित होने लगती है। आत्मा विविध ऋद्धियो एव सिद्धियो से सम्पन्न बनने लगता है। जिससे मानवीय जीवन से सबधित समग्र आधि, व्याधि रूप समस्याओ का सम्यक् समाधान स्वत सहजतया हो जाता है। वह तप शील साधक देवो, दानवो नरेन्द्रो और देवेन्द्रो तक का अर्चनीय, पूजनीय तथा आदरणीय हो जाता है। ऐसे तप रूप रसायन का किसी भी भौतिक पदार्थो एव रासायनिक द्रव्य से मूल्य नहीं आका जा सकता।

इस लोकोत्तर सिद्धि प्रदायक तप रूप रसायन की सम्यक् समझ एव सेवन विधि का विज्ञान न होने के कारण कई लोग मानो कौए को उडाने के लिए हीरा फैकते हैं। उसका सेवन करके भी उसके द्वारा अपने मान की सपुष्टि करते है। वह योग्य नहीं हैं, क्योकि यह तप शुद्ध रसायन रूप साधन है। इसको अशुद्ध मानवृत्ति से सबधित करना घोर मूढता है।

यह गाय के दुग्ध को आक के दूध के साथ सयुक्त करने

पुरुषो को तुच्छ समझता है, उनकी अवमूल्यना करता है, उपकार का एहसान जतलाता है, उन्हे हर समय दबाने की चेष्टा करता है। उन्हे अपनी अधीनता मे रखना चाहता है। उनकी बात न सुनकर दुत्कार देता है। अपने आपको सर्वेसर्वा समझने लगता है परिणाम यह होता है कि अपनी गर्वोन्मत्तता मे शुद्धाचार विचार का विलय करता रहता है। इससे पुण्य का ह्रास और पाप की अभिवृद्धि होने लगती है, ज़िससे उसके लाभ की स्थिति भी उससे विमुख बनने लगती है और वह स्वय जिनका तिरस्कार करता था, समय आने पर उन जैसा बन जाता है। फिर तो आर्त–रौद्र ध्यान की परिणति उत्तरोत्तर बढती रहने से अशाति बढ जाती है। हाय हाय का सिलसिला प्रारभ हो जाता है, वह दु खानुभव करने लगता है। अत प्रत्येक भव्यात्मा को लाभ का मद कभी नही करना चाहिए। अपने जीवन का समीक्षण करते हुए लाभ की उपलब्धि तथा उसके विनश्वर स्वभाव का चितन–मनन कर निर्ममत्व भाव की साधना साधते समय अपने से लाभ मे जो श्रेष्ठ है उनको मध्यस्थ भाव से देखने का अभ्यास करते रहना चाहिए। इस पद्धति से लाभ के मद से विर्निमुक्त बना जा सकता है और लाभ का सदुपयोग भी किया जा सकता है। अत प्रत्येक भव्य प्राणी को उपर्युक्त रीत्या समीक्षण कर मान को सर्जक लाभ के प्रति उपेक्षित बन उससे निर्लिप्त रहते हुए समत्व के साथ उसका सदुपयोग करना आत्मविकास के स्रोत–द्वार मे प्रवेश करने के तुल्य है।

श्रुत का दर्प

मानव–जीवन जगत् के समग्र प्राणियो के जीवन की अपेक्षा श्रेष्ठ जीवन है। इस जीवन से पुरुषार्थ के द्वारा ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट साधना साधी जा सकती है। किन्तु ज्ञान की साधना अति ही कठिन है। इस साधना को साधने के लिए अपनी समग्र सुख–सुविधाओ को परित्याग करके ज्ञानदाता के प्रति सर्वतोभावेन समर्पणा करके ज्ञानदाता के प्रति सर्वतोभावेन समर्पणा करके चलना पडता है। उनके अनुशासन मे रहना पडता है। उनके प्रति आदर–सत्कार–सम्मान की भावना रखते हुए विनय–धर्म की आराधना करनी पडती है।

जब अतरग मे प्रबल जिज्ञासा श्रुत ज्ञान के प्रति जागृत होती है तब जिज्ञासु एकाग्रता, एकावधानता के साथ उसे श्रवण कर पकड़ने की चेष्टा करता हे तथा उस पकड के लिए सतत जागरूक रहता है।

श्रुतज्ञान श्रवण करने–कराने योग्य होता है। यह किसी व्यक्ति–विशेष की या किसी समाज एव राष्ट्र की सम्पत्ति नही है। यह प्रत्येक प्राणी की धरोहर हे। इस धरोहर को उपलब्ध करने की योग्यता रखने वाला चेतन्य देव इसकी उपलब्धि कर सकता है। उसकी उपलब्धि करने वाला व्यक्ति यदि विवेक–विज्ञान से युक्त है तो श्रुत उसके लिए भूषण बनता है। यदि विवेक–विज्ञान से सम्पन्न नही हे तो प्राप्त श्रुत से दोषो का पोषण कर लेता है। उनमे भी अभिमान रूपी दोष को उभरने मे विशेष सबल मिल जाता है। श्रुत का अध्येता अपने मन मे अभिमान को पुष्ट करने के लिए कहने लगता है– मेरे जैसा श्रुत ज्ञानी कोई नही हे, म ही सर्वोपरि श्रुत का ज्ञाता हूँ। मैं अन्य को अध्यापन करने मे कुशल हूँ। अन्य कोई मेरी तरह कुशलतापूर्वक अध्ययन करवा नहीं सकता, क्योकि वे इसके रहस्य के विज्ञाता (जानकर) ही नही हे– इत्यादि शब्दो से जनसाधारण को भ्रमित करता हुआ एव जनसाधारण के मस्तिष्क मे अन्य के लिए घृणा पैदा करता हुआ निज के अभिमान का पोषण करता रहता है। ऐसा मानी स्वय को तो नीचे गिराता ही है, साथ ही अन्य व्यक्तियो के लिए भी ज्ञात–अज्ञात रूप से दूषित वायुमडल निर्मित करता है। अतएव समता की साधना करने वाले साधक को चाहिए कि इस प्रकार के अभिमान का भी समीक्षण करके चितन करे कि श्रुत किसी व्यक्ति विशेष की वस्तु नही हे, यह तो समग्र मानव–समुदाय की है और उन्हीं के लिए है।

जो सम्यक्श्रुत है वह तीर्थंकर देवो की देन है। उन्होने परिपूर्ण साधना के पश्चात् नि स्वार्थ भावनापूर्वक सभी प्राणियो के लिए रक्षा रूप दया के हेतु उपदिष्ट किया हे। अतएव मौलिक अर्थ रूप देन वीतराग देवो की है। गणधरो ने गद्य–पद्यात्मक रूप मे उस अर्थ को ग्रथित किया। सुधर्मा स्वामी आदि आचार्य प्रवरो ने उस महान् देन को

सुरक्षित रखा। उस श्रुत का मैं अध्ययन करता हूँ तो वह मेरी क्षयोपशमिक अवस्थानुसार हो जाता है। उसी परम्परा को सुरक्षित रखते हुए कुछ अध्ययन–अध्यापन करता कराता हूँ तो इसमे कौन–सा असाधारण कार्य कर रहा हूँ। जितना मैं श्रुत का ज्ञान कर पाया हूँ उससे कई गुण अधिक सुधर्मा–स्वामी तथा अन्य गणधरो का था। उन महापुरुषो ने विराट् श्रुत को अपने जीवन मे स्थान देते हुए अभिमान नही किया, किन्तु उसके फलस्वरूप अन्य दोषो को भी विसर्जित कर दिया। यह सम्यक् श्रुत जीवन के दुर्गुणो–दोषो को परिमार्जित करने के लिए है न कि बढाने के लिए। अतएव मेरे जीवन मे कदाचित् अज्ञात रूप से, कहीं पर भी श्रुत को लेकर मान का अकुर उभरता हो तो उसको मै समीक्षण दृष्टि से अन्वेषित कर बाहर कर दूँ और निरभिमान वृत्ति से साधना मे तन्मय बन जाऊँ। रहा प्रश्न लौकिक श्रुत का वह अपूर्ण व्यक्तियो की देन है। उसमे तारतम्य रहता ही है। तथा उनमे परिवर्तन–परिवर्धन भी समय–समय पर होता रहता है। उसका कोई निश्चित निर्णायक रूप नही होता। अतएव लौकिक श्रुत के अध्ययन को लेकर अभिमान करने का तो प्रश्न ही पैदा नही होता। इस प्रकार साधक चितन करता रहे। समता से जीवन को ओतप्रोत बना समीक्षण दृष्टि को उत्तरोत्तर विकसित करूँ, यही उसकी भावना सदा बनी रहनी चाहिए।

ऐश्वर्य-मानवर्धक

मानव विविध प्रकार की प्रवृत्तियाँ करता रहता है। सासारिक मनुष्यो को ससार का वैभव अच्छा लगता है। उसके लिए वे अपने जीवन को प्राय समर्पित कर देते हैं और अनेक विधियो से वैभव–सम्पादन की प्रक्रिया भी चालू रखते है। उसमे दुनिया को बताने के लिए भले ही कुछ नैतिकता का उदघोष किया जाता हो, किन्तु वस्तुत तथाकथित नैतिकता प्राय धर्म से विहीन होने के कारण अनैतिकता की श्रेणी मे ही गिनने योग्य बनती है। क्योकि उस प्रक्रिया मे झूठ प्रपचादि कूटनीतियो का अम्बार सा लग जाता है। इससे आत्मा का अवमूल्यन

भी विशेष होता है। नवीन—नवीन कर्म बधनो से चैतन्य देव की शक्तियाँ आच्छादित होती रहती हैं। चैतन्य देव की उपेक्षा कर कदाचित् कुछ वैभव पा लिया तो पुरुष सोचता है कि बहुत बडा वैभवशाली हूँ, मेरी तुल्यता मे अन्य कोई आ नही सकता। इस प्रकार अभियान वृत्ति को पनपाता हुआ चलने लगता है। सयोगवश कभी ग्रामपच, सरपच, चेयरमैन आदि अधिकारियो के साथ विधायक (एम एल ए), एम पी मिनिस्टर, मुख्यमत्री, प्रधानमत्री, राष्ट्रपति आदि अधिकारो से सम्पन्न हो गया तो मान आसमान को छूने लगता है। कोई अध्यापक, प्रोफेसर, डॉक्टर, बैरिस्टर, वकील या सुप्रीम कोर्ट आदि का जज हो गया अथवा इसी प्रकार के न्यूनाधिक मात्रा मे अन्य ऐश्वर्य को वर लिया तो अपने आपको सभाल नही पाता, हवा मे उडने लगता है। व्योम से बाते करने लगता है। धराधाम को प्रकम्पित करता हुआ स्वय से न्यून ऐश्वर्य वालो को नचाने लगता है। उन्हे पद—दलित कर हीन बनाने को कोशिश करता रहता है। यह एक ऐसा मद है जो मानव को दानव बना देता है। ऑखे होते हुए भी उसे अधा बना देता है। मानव—तनधारी पुरुष को राक्षस—रूप का प्रतिनिधि बना देता है। रावण, कस, जरासध आदि इसके ज्वलत उदाहरण है। आधुनिक युग मे भी इस प्रकार के अनेकानेक पुरुष हो सकते है। इस रोग से ग्रस्त रोगी स्वय को तो असाध्य रोग मे समाप्त करते ही है, छूत रोग की भाति अन्यो को भी रोगी बनाते हैं। अतएव साधक को समीक्षण दृष्टि का सदा सर्वदा ध्यान रखना चाहिए। इसी दृष्टि से अतरग एव बाह्य प्रत्येक तत्त्व का अवलोकन होने लगे तो व्यक्ति प्रत्येक क्षेत्र मे सफल कार्यकर बन सकता है। जिन बाह्य क्रिया—कलापो से विभिन्न समस्याएँ समुत्पन्न होती हैं, परिणामस्वरूप तनाव, अशुभ चितादि दुर्वृत्तियाँ पनपती रहती हैं, उनका पनपना बद हो सकता है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब साधक समीक्षण करता हुआ यह देखे कि यह तनाव किन कारणो से है ? उन कारणो के अन्वेषणो से ज्ञात होगा कि जिन तत्त्वो के प्रति मान की पकड है, वह पकड ही तनाव का मुख्य एव मूल कारण है। मान का पोषण करने के लिए ही तनाव आदि अनेक बीमारियाँ अकुरित,

पल्लवित व पुष्पित होकर फलित हो रही है। यह अमूल्य जीव असाध्य आतरिक रोगो से ग्रस्त बनता जा रहा है। उससे वास्तविव लाभ तो कुछ भी नही, किन्तु हानियो का अम्बार–सा लगता जाता है।

बहिर्दृष्टि मानव मान की इस पकड को देख नहीं पाता। अतएव उसे छोडने की कला भी नही जान पाता। वह कला आ भी कैसे सकती है जब तक वस्तु स्वरूप का सही ज्ञान न हो, इसके बिना उसे कला का विज्ञान प्राप्त नही होगा। कला का विज्ञान प्राप्त करने के लिए समीक्षण दृष्टि की समग्र उपायो मे श्रेष्ठतम उपाय है। अतएव साधक के लिए समीक्षण दृष्टि की विधि प्राप्त कर उसे प्रयोग मे लना नितांत आवश्यक है।

समीक्षण दृष्टि ऐसी आतरिक दृष्टि है कि जिससे बाह्य तत्त्वो के अवलोकन के साथ–साथ आतरिक तत्त्वो का भी अवलोकन हो जाता है। भीतर मे भी अन्य तत्त्वो के अतिरिक्त आत्मा का वैभाविक गुण, जो अभिमान की सज्ञा से अभिहित किया जाता है, भलीभाति दिखने लगता है। साथ ही इससे होने वाले आध्यात्मिक एव मानसिक दु साध्य रोग भी विदित हो जाते है। पर यह तभी शक्य है जबकि इस विशिष्ट दृष्टि का सत्कार–सम्मान पूर्वक, जिज्ञासा पूर्वक श्रद्धान्वित होकर दीर्घकाल तक अनवरत अभ्यास किया जाए। यह अभ्यास साधक की रुचि पर निर्भर है। आवश्यकता है उस रुचि को जागृत करने की ओर वह भी सामान्य नहीं, तीव्रतर होनी चाहिए।